प्रथम संस्करण, १६४७
द्वितीय संस्करण, १६४६

अनुवादक
प्रभुशंकर नागर

संशोधक
सत्यनारायण व्यास

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—माधो प्रिंटिंग वर्क्स, बैरहना, इलाहाबाद।

भूमिका

जरासंध एक महापुरुष था। श्रीकृष्ण के प्रशंसक वेदव्यास ने उसे नीच एवं दुष्ट कहकर अन्याय किया है।

वृहद्रथ वंश का वह महारथी, मगध देश की राजधानी गिरिव्रज में राज्य करता था। उसे समस्त आर्यावर्त में चक्रवर्तीपद पाने की उत्कट लालसा—अखण्ड आर्यावर्त की स्थापना करनी थी। इस मोहक महत्वाकांक्षा को पूरी करने की वलवती स्पृहा ने उसको कंस, शिशुपाल आदि पराक्रमी वीरों को अपने यहाँ सामन्त-पद से भूषित करना पड़ा था। वह यथार्थ में महान् था। उसने उस महान् स्वप्न की साधना की और केवल उसी के लिये अपने प्राणों का वलिदान भी दिया।

श्रीकृष्ण को जरासंध का स्वप्न न रुचा, क्योंकि वह स्वयं ऐसे महान् स्वप्न की कल्पना कर रहे थे। स्वप्न देखने वाले की धूलि पर ही स्वप्न सिद्ध करने वाले भव्य भवन का निर्माण करते हैं।

श्रीकृष्ण ने जरासंध को मरवाया और स्वयं वासुदेव-पद धारण किया। धर्मराज के यहाँ राजसूय-यज्ञ के समय समस्त आर्यावर्त ने उनको अर्घ्य दिया। सिंहासनहीन पुरुषोत्तम, व्यक्तित्व-वल से आर्यावर्त की एकता के प्रतीक वने।

श्रीकृष्ण जरासंध से अधिक वलवान थे। इस स्वप्न-सेवन से उनका कुछ न बिगड़ा। परन्तु इस स्वप्न की सिद्धी करते समय पूर्व-

निर्मित झंझावात में और दूसरों का विनाश हुआ। आर्य-राज्य कुरुक्षेत्र में आपस में कट मरे।

महाभारत के युद्ध के अंतर्गत जरासंध का पुत्र सहदेव रण में मारा गया। और पार्थ-पुत्र अभिमन्यु के यहाँ परीक्षित का जन्म हुआ।

उस समय युग बदला, कलियुग आया। आर्यावर्त की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। उसकी दीप्त-प्रभा मन्द पड़ गई।

इस घोर अंधकार से संस्कृति की रक्षा करने के लिये महर्षिगण जङ्गलों में रहने लगे। नैमिषारण्य में शौनक ऋषि ने द्वादश वर्ष तक तप किया, तब व्यास द्वैपायन के शिष्य, सूत पुराणी, लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा ने महाभारत और पुराणों का पाठ किया। इस समय मगध के सिंहासन पर जरासंध के वंश का राजा सेनाजित राज्य करता था।

कुछ शताब्दियों के उपरान्त काशी-नरेश शिशुनाग के वंश का राजा अजातशत्रु मगध में राज्य करता था, उस समय गौतम बुद्ध ने बौद्धमत का प्रचार किया। अजातशत्रु के ही राज्यकाल में ई० स० पूर्व ५४३ में बुद्ध का निर्वाण हुआ। अजातशत्रु ने कोशल और वैशाली जीते, गिरिव्रज छोड़ गङ्गा और सोन नदी के संगम पर पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की। उसके भग्नावशेष आज भी पटना के आस-पास मिलते हैं। उसके पोते उदयन ने पाटलिपुत्र के पास कुसुमपुर बसाया। उदयन के पोते महानन्दी की शूद्रा से महापद्म पैदा हुआ।

महापद्मनन्द नवनन्द—नवीन नन्द—कहलाया। वह कलि का अवतार कहा गया।

परीक्षित के जन्म से महापद्म के अभिषेक तक १०५० वर्ष बीते; सप्तर्षि-मण्डल जो कृतिका में था वह पूर्वाषाढ़ा में आया।

महापद्मनन्द ने जरासंध का स्वप्न सत्य किया : वह सार्वभौम हुआ। उसने परशुराम के समान क्षत्रियों का विध्वंस किया।

कलि मध्याह्न पर थी।

महापद्म ने लम्बे समय तक राज्य किया। उसकी सेना के प्रताप से वसुन्धरा प्रकम्पित थी। मगध के त्रास से समस्त आर्यावर्त थर्रा उठा। उसी समय श्रुति और संस्कृति को देशनिकाला मिला।

भारत मे नवनन्द कुल का सर्वार्थसिद्धि हिरण्यगुप्त पाटलिपुत्र में राज्य करता था और पश्चिम एशिया मे ईरान का शाहनशाह दारा राज्य करता था उस समय मेसीडोन का महत्वाकांक्षी नरेश फ़िलिप ग्रीस का स्वातन्त्र्य छीन रहा था।

ई० स० पूर्व ३३६ मे फ़िलिप का स्वर्गवास हुआ और उसका लड़का सिकन्दर सिंहासनारूढ़ हुआ। पिता अपने पुत्र के लिये एक छोटी पर सशक्त सैन्य और दिग्विजय की महत्वाकांक्षा छोड गया था। इस बीस वर्ष के लड़के में महान् गुण, महान् अवगुण और महान् आकांक्षाएँ थीं। उसका गुरु था एरिस्टोटल।

उसने ग्रीस को देखते-देखते तहस-नहस और थीब्स को धराशायी कर दिया। ई० स० पूर्व ३३५ में वह ३०,००० पैदल सेना और ५००० अश्वारोहियों को ले एशिया-विजय के लिये निकल पड़ा।

भयानक महत्वाकांक्षा की इस मूर्ति ने कुछ ही महीनो मे मिश्र, ईरान और वेक्ट्रिया विजयकर अपनी असाधारण सत्ता का सिक्का जमाया। संस्कारी यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया इस महान् वीर के जयघोष से गूँज उठा।

अब कहानी प्रारंभ करें—

१

अस्ताचलगामी अंशुमालि के मधुर तेज में स्नात पाटलिपुत्र फैला हुआ था। नन्दकुल के नरेन्द्र की यह राजधानी अमरावती के सौन्दर्य को भी लज्जित कर रही थी।

महापद्मनंद के राज्याभिषेक के इक्यानवे वर्ष बीत गए थे और उनका पौत्र हिरण्यगुप्त 'सर्वार्थसिद्धि' की उपाधि धारणकर मगध के सिंहासन पर आरूढ़ था। वह अपनी सेना से सम्पूर्ण आर्यावर्त को कम्पित करता हुआ अपने अगाध ऐश्वर्य से धनपति कुबेर को भी लज्जित करता था। इस नन्द को बौद्ध साहित्य में धननंद के नाम से सम्बोधित किया है।

इस समय मध्याह्न का काल अपनी सोलहों कला से पृथ्वी को आतंकित कर रहा था।

जरासन्ध के सिंहासन पर बैठा शूद्र महापद्म का वंशज इन्द्र से स्पर्धा करने के लिये अपने को 'नरेन्द्र' कहता था। उसका अन्तःपुर देवराज इन्द्र के भवनों को भी लज्जित करता था।

इस राजगृह की ओर एक अश्वारोही सरपट दौड़ा जा रहा था। घोड़ा सफेद था, जरी के बन्ध से बँधे घूँघरू बज उठते थे।

घोड़े पर बैठा युवक तीस-चालीस वर्ष का स्वरूपवान योद्धा था। वह विशालकाय था, उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और तेजस्वी थीं।

उसके सिर पर मणिजटित मुकुट था। उसके लम्बे केश हवा में लहरा रहे थे। उसके वक्षस्थल पर कवच था, हाथ के रक्षार्थ सोने से मढ़ा हुआ हस्त-कवच था। उसकी कमर पर एक छोटा-सा कपड़ा बँधा हुआ था। उसकी कमर और पैरों में भी लोहे के संरक्षण थे।

उसकी कमर से एक नग्न खड्ग लटक रहा था और स्कन्ध पर धनुष-बाण।

दौड़ते और हाँपते हुए घोड़े पर वह आगे बढ़ा। राजगृह के द्वार पर आते ही रक्षकों ने अन्तःपुर के कपाट खोल दिये। सामने वाले दरवाजे से अन्दर वाले दरवाज़े को जाने वाला मार्ग अत्यन्त ही सँकरा और प्रस्तर-जटित था। उसके दोनों तरफ ऊँची दीवालें थीं और उन पर धनुर्धारी रक्षक खड़े थे। बिना रोक-टोक के वह अश्वारोही आगे गया और परिचित मार्ग से घोड़ा चारों पैर से अन्दर घुसा।

अश्वारोही के समीप आते ही अन्दर के भी द्वार खुल गये और द्वार-रक्षकों ने उसे प्रणाम किया।

राजगृह के अन्दर के द्वार खुलते ही नवीन—बाहर से भयंकर चहारदीवारी देखकर कोई भी कल्पना नहीं कर सकता ऐसी—सृष्टि अश्वारोही के सन्मुख प्रसरित थी।

दृष्टि की अन्तिम सीमा तक सुन्दर उपवन लहरा रहा था। सुन्दर, नयनाभिराम हरितिमा चारों ओर प्रसारित थी। एक सुन्दर झरना धीमे रव से वातावरण में मधुरिमा घोलता, प्रासाद की सीढ़ियों पर मृदु नर्तन करता हुआ गंगा की उत्ताल तरंगों से मिलने चला जा रहा था। मन्द पवन वृक्षों को अनुप्राणित कर हिला जाता था। विहग-वृन्द आत्म-सन्तोष से मधुर कलरव कर रहे थे।

ऐसी अपूर्व सृष्टि में नरेन्द्र का अद्‌भुत भवन दिखाई दिया। वह किसी जादूगर की कला जैसा प्रतीत होता था। वहाँ सोने-चाँदी की सरिताएँ उन कलाकृतियों में जा सोई थीं। परन्तु एकाग्र-चित्त आगे बढ़नेवाले इस राजपुरुष के पास सौन्दर्यावलोकन का समय न था। पलभर में उद्यान को पारकर वह भवन के द्वार पर पहुँच गया और घोड़े से उतर पड़ा। खड़े हुए सेवकों को मौन आज्ञा दे, घोड़े को सौंप वह अन्दर गया।

दरवाज़े के बाहर झूमते हुए मत्त गयन्द के महावत और चपल अश्वो के रखवाले नीचे झुक-झुककर नमस्कार कर रहे थे। परन्तु इस अधीर राजपुरुष ने किसी की ओर न देखा।

भवन के अन्दर के खण्डो की शोभा अपार थी। स्तम्भावली से सुशोभित इस खण्ड में मयूर इन स्तम्भो पर बैठते ही चाँदी के हो गये थे। बाहर झूमते हाथी जलकलश के आगे आते ही स्वर्णिम हो गये थे। चारो तरफ़ उड़ते स्वर्ण-विहग, रत्न-जटित चोंच में नीलम के बीज ले, निश्चिन्त हो प्रासाद के खण्डों को शोभित करते थे।

कितने ही योद्धा आँगन में खड़े थे, कई सजग हो फिर रहे थे, तो कई गर्वोन्मत्त हो रजत-दीवाल में अपना मुख देख-देख मूँछो पर ताव दे रहे थे।

नवागत राजपुरुष को आता देख सब घबराकर सजग हो गये। उसको इन सब की परवाह न थी। चार लम्बे-लम्बे डगो से आँगन को पारकर वह अन्दर गया। उसके आँखों से ओझल होते ही बाहर खडे योद्धाओ ने एक दूसरे की ओर देखा। मंत्री राक्षस आज इतनी उतावली में क्यो हैं ? क्या बात है ? किसके सिर पर बीतेगी ? यह प्रश्न किसी ने न किये थे परन्तु सबके मुख पर उनकी स्पष्ट छाप अंकित थी। अन्दर के प्रकोष्ठ में खड्गधारी योद्धा फिरते थे—विकराल बुभुक्षित सिंह सदृश्य। दाहिने हाथ की ओर मंत्रगृह था। वहाँ मंत्रिगण गम्भीर प्रश्नों पर विचार-विनिमय कर नरेन्द्र को सलाह देते थे। बायीं ओर अध्यक्ष-स्थान था। वहाँ राज्य के अध्यक्ष राजा से मिलते और आज्ञा सुनते थे।

इस खण्ड से अन्दर जानेवाले द्वार मे से एक विशाल रम्य उद्यान दृष्टिगत होता था। उपवन के बीच में नन्द का रत्नजटित मोहनगृह था।

द्वार पर यावनिकाएँ अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित खडी थीं। उनके हाथ में तीर-कमान थे। मदमाती, सशक्त, क्रूर यावनिकाओं का सैन्य

इस प्रकार अन्तःपुर की रक्षा करता था। दो यावनिकाओं ने तीर-सन्धानकर मार्ग रोका, परन्तु अधरों पर मन्द हास था। वह दोनों आगत पुरुष को जानती थीं, यह बाधा तो उसके लिये एक निरुपयोगी वस्तु थी।

भ्रूभंगकर अधीरता से राक्षस ने राजमुद्रा दिखलाई और तुरन्त यावनिकाओं ने अपने तीर हटा लिए।

'सेनाजित कहाँ है?' उसने पूछा।

'अन्दर हैं।' पुरुष से भी अधिक कठोर कंठ-स्वर से एक यावनिका ने उत्तर दिया। उसको उस देश की भाषा बोलने का अभ्यास न था, ऐसा स्पष्ट दिखाई दिया।

'देव मोहनगृह में हैं क्या?' राक्षस ने पूछा।

'राक्षस! क्या है?' पीछे से आवाज़ आई।

राक्षस पीछे फिरा और मंत्रभूमि से आते एक वयोवृद्ध पुरुष को प्रणाम किया। वृद्ध के साथ एक मुण्ड साधु था, वह वहाँ से चला गया।

यह पुरुष बहुत ही वृद्ध था। उसकी कमर झुक गई थी, उसके सब दाँत टूट चुके थे, वह एक लकड़ी के सहारे चलता था। वृद्धावस्था सब को गौरव प्रदान करती है: केवल यह व्यक्ति अपवादरूप से जीवित था—उसकी आँखों में उपहास, तिरस्कार और धूर्तता तीनों की स्पष्ट छाया अंकित थी। उसका नीचे वाला होंठ आगे बढ़ गया था—सतत तिरस्कार सहन करने के कारण।

राक्षस इस भयंकरता की प्रतिमूर्ति के सामने श्रद्धा और आदर के भाव से देख रहा था। यह आगन्तुक अमात्य वक्रनास था। उसके बुद्धि-बल पर नन्द का राज्य चलता था, उसकी असाधारण शक्ति से मगध विजयी होता था, उसकी सहस्रमुखी राजनीति पर समस्त नन्द साम्राज्य आधारित था।

'गुरुवर्य ! एक विकट समस्या आ खड़ी हुई है, उसीके सम्बन्ध में देव से आज्ञा लेने आया हूँ।'

'क्या बात है?' नीचे वाले होठ को और भी आगे बढ़ाते हुए वक्रनास ने पूछा।

'युवराज आंभि नगर में आने को तैयार नहीं।'

'क्यों?'

'अपने गुरु-बन्धु के बिना वह नहीं आना चाहता।' तिरस्कार से राक्षस ने कहा।

'लेकिन उसे भी ले आना था न?'

'किस प्रकार ले आऊँ? युवराज आंभिक उसको अपने साथ हाथी पर बैठा ले आना चाहते हैं। परन्तु वह ब्राह्मण है। देव के शासनानुसार ब्राह्मण हाथी पर किस प्रकार बैठकर आ सकता है?'

'ठीक है।'

'मैंने युवराज को शासन निर्धारित नियमों का उल्लेख किया था।'

'फिर?'

'विष्णुगुप्त क्रोधित हो उठा।'

तिरस्कृत भाव से वक्रनास हँसा। 'ब्राह्मणों को कितना अभिमान, है। तक्षशिला में ब्राह्मणों का बहुत प्रभाव है। फिर?'

'उसने कहा—'

'क्या कहा?'

'कि श्रोत्रीय इस नगर में पैदल जायगा—श्रोत्रीयश्रेष्ठ आचार्य शकटाल के दर्शनार्थ। यह कहकर वह शकटाल के घर चला गया।

वक्रनास के मुख पर घटा-सी छा गई—उसके मुख पर की दुष्टता घनीभूत हो गई, उसकी आँखों में द्वेष झलकने लगा।

'शकटाल के दर्शन करनेवाला वह कौन है?'

'कोई उसका पहले का शिष्य है।'

'फिर आंभिक क्यों नहीं आया?' वक्रनास ने पूछा।

'युवराज कहते हैं कि जहाँ मेरे अपमान की सम्भावना है वहाँ मैं कदापि नहीं चल सकता।'

'फिर आया किस लिये है।'

'कहते हैं कि अपनी बहिन से मिलने आया हूँ, पर स्वाभिमान का बलिदान देकर नहीं।'

'ऐसा?' तिरस्कार से वक्रनास ने कहा।

'क्या आज्ञा है?'

'देव के पास चलो।'

'पधारिये।' कहकर राक्षस ने मार्ग छोड़ दिया और वक्रनास लकड़ी टेकता हुआ आगे-आगे चलने लगा और राक्षस उसके पीछे-पीछे।

२

वक्रनास और राक्षस अन्दर मोहनगृह की ओर गये। उस गृह के पिछवाड़े अन्तःपुर का उद्यान था। उसके तीनों ओर अन्तःपुर स्थित था और उसमें से सोन नदी की एक धारा संगमरमर के मार्ग से होकर बह रही थी।

इस उद्यान के कुञ्जों में मत्त कलापी नृत्य करते और नदी में हंस और चक्रवाक के जोड़े स्वच्छन्द विहार करते थे। संगमरमर का एक छोटा-सा पुल मोहनगृह और अन्तःपुर को जोड़ता था।

अन्तःपुर के अनेक खण्डों में मोहक दासियाँ विद्युत-लेखा सी दीवालों को चमकातीं और झाँझर की झनकार से प्रतिध्वनित करती थीं। कभी-कभी वृद्धा स्त्रियों के मुख चन्द्रमा के कलंक के समान अन्तःपुर की मोहकता को बढ़ा देते थे। स्थान-स्थान पर यवन स्त्रियाँ पहरा देती थीं।

एक खण्ड के सामने दो दासियाँ गुपचुप बातें कर रही थीं।

वह सुसज्जित खण्ड इतना विशाल था कि अन्दर आने वाले को उसमें निर्जनता का निवास प्रतीत होता था—तथापि वह निर्जन न था।

सिंह-मुखाकृति के एक छज्जे के सामने स्वर्ण-पाट पर एक अनिंद्य सुन्दरी प्रस्तर-प्रतिमा-सी पड़ी हुई थी।

यह सुन्दरी अद्‌भुत ढङ्ग से अलंकृत थी। सिर पर चमकती दामिनी, कण्ठ में कुचमण्डल को छिपाती विभिन्न रंग की रत्नावलियाँ, कमर पर रत्नजड़ित मेखला, हाथ और पैर मे भाँति-भाँति के आभूषण, कमर से पहना हुआ वस्त्र उस समय के अतीव सुन्दर परिधान का ध्यान दिलाता था। एक छोटा-सा उत्तरीय ज़मीन पर पड़ा था।

स्त्री का मुख स्फटिक-शिला सा श्वेतवर्ण था। उसकी काली अलकें सिर पर कुण्डली मारकर बैठी थीं। उसके मदिर अङ्गों से विलासोत्कंठा जागृत हो उठती थी; परन्तु उसके मुख पर, नेत्रों में, सम्पूर्ण शरीर पर एक ही भाव अङ्कित था—तिरस्कार—प्राणघातक और भयप्रद, आत्मतिरस्कारपूर्ण तिरस्कार। उसका जीवन मृत्यु समान था, उसकी निःश्वासें वैभवपूर्ण खण्ड में विचित्र प्रतिशब्द कर रही थीं।

उसकी दृष्टि बाहर उद्यान में प्रवाहित सोन की उद्‌गमित धारा पर स्थिर थी। नृत्य करती हुई, आगे बढ़ती उन्मुक्त लहरियो के स्वातंत्र्य से वह ईर्ष्या कर रही थी।

वह मगध के महाप्रतापी हिरण्यगुप्त की महादेवी सुमोहा थी। परन्तु उसकी आकांक्षा सोन की स्वच्छन्द मत्स्या बनने की थी। वह इस जीवन से ऊब गई थी। वह छूटना चाहती थी—किसी के द्वारा नहीं, मृत्यु के द्वारा। उसकी भयभीत, आतंकित और सहमी दृष्टि के सम्मुख उसके जीवन के प्रसंग साक्षात् खड़े हुए थे।

सुदूर पर्वत-शृंगों से वेष्टित तक्षशिला नगरी में उसका जन्म हुआ था—बड़ी हुई थी। धार्मिक, न्यायी और सदाचारी पिता सुबाहु ने उसे पाला-पोसा था। तक्षशिला के विद्वान तपोधनों ने उसे सुसंस्कारित किया था।

एक अशुभ नक्षत्र में सुबाहु ने क्षुद्रक और मालवों की सहायता करने का विचार किया, और यमुना तट पर मगध की महासेना के साथ मुठभेड़ हुई। क्षुद्रक, मालक और तक्षशिला की सेना मगध के बलिष्ठ पंजे में पड़ गई। राजा सुबाहु पकड़े गये। कठिन प्रयास और अतुल धनराशि दण्डस्वरूप देने के बाद किसी तरह सुबाहु को स्वाधीनता मिली—मूल्य में पिता को अपनी प्राण-प्रिय पुत्री भी अर्पण करनी पड़ी। त्रिलोक में अद्वितीय पाटलिपुत्र के सिंहासन पर पैर रखते ही वह गर्वोन्मत्त हो गई थी। धन, वैभव और प्रताप के तेज मे पहले तो वह बालिका मन्त्रमुग्ध हो गई, परन्तु धनसंचय, काम-तृप्ति और द्वेष प्रवृत्ति में विभोर पति, नीचता और लम्पटता को मोक्ष माननेवाले राजपुरुषों, वर्णाश्रम-विहीन और क्षत्रिय-द्वेषी संस्कारभ्रष्ट वातावरण, भोग-विलास मे निमग्न स्त्रियाँ—यह सब तक्षशिला के संस्कार मे पली राजकुमारी को थोड़े ही दिनों में असह्य लगने लगा।

महीनों तक उसने इस परिस्थिति में एकरस होने का प्रयत्न किया। फिर महीनों तक उसने पति और सखी-सहेलियों के वातावरण को सुधारने की चेष्टा की, महीनों तक तिरस्कारभरी संवेदना सही, परन्तु सभी प्रयत्न विफल हुए—केवल उसके हाथ लगे—आत्म-तिरस्कार और जीवन से उदासीनता के गहरे दन्त-चिह्न।

फिर उसने विद्रोह करना शुरू किया। परन्तु महाराज धननन्द और अमात्य वक्रनास ने उसके समस्त प्रयत्नों को विफल सिद्ध कर दिया—उसके प्रयत्नों की विडम्बना की। उसका यह विद्रोह केवल

मूर्खता का अभिनय मात्र रह गया। उसके पिता के यहाँ के सहचर अदृश्य हो गये, और वह घातक के पिंजरे में फँसे असहाय पक्षी की भाँति पंख फटफटाती रही।

महाराज को उसका अपमान करने में आनन्द आता था। वृद्ध वक्रनास कृत्रिम विनय की ओट में व्यंग करता रहता था। तक्षशिला की राजकुमारी यह कैसे सह सकती थी—उसने अपने पिता के पास जितने संदेशे भेजे जा सकते थे भेजे—परन्तु कोई लाभ न हुआ। नन्द की महारानी का पितृगृह अस्तित्वहीन हो गया था।

इस समय वह आत्महत्या करने का विचार कर रही थी। क्यों न सोन की शरण में जाऊँ? कल की रात जैसे अपमान और अधिक क्यों सहूँ?

गत रात्रि को महाराज ने उसे बुलाया, वह गई। मगध का स्वामी अनेक अन्य युवतियों के साथ विहार करता था। उसने उसे—महारानी को—पवित्र तक्षशिला कुमारी को—बुलाया और यावनिकाओं और दासियों के बीच उसका अपमान किया। वह क्रोधित हुई। नन्द उसके सामने हँस पड़े और एक रूपजीवा ने उसे गोद में उठा लिया। राजपाट, धन-वैभव बिना मान किस काम के? और इस समय अकेली बैठकर उसका पश्चात्ताप करते रहने से क्या मरना बुरा है? और वह क्या करे? किससे कहे? किसको सहायता ले?' उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी।

'देवी!'

सुमोहा चमकी और धड़कते हृदय से देखा—प्रत्येक स्वर, प्रत्येक ध्वनि से वह भयभीत हो उठती थी।

'देवी! घबराओ मत!' वृद्ध दासी ने धीरे से कहा।

'कल्याणी, तू कैसे आई?' मुख पर बलपूर्वक झूठा अभिमान लाते हुये उसने कहा।

'आप घबराती क्यों हो ?' उसने चारों ओर देखा और फिर बोली, "युवराज आंभि आ गये हैं।'

'क्या ?' स्तब्ध हो महारानी ने पूछा, 'मेरा भाई ?'

कल्याणी ने होठ पर अँगली रखी, 'राजकुमारी अपने मन में रक्खो यदि किसी ने सुन पाया तो हम दोनों मारी जायँगी।'

'कैसे पता लगा ?' हर्ष से उछलते हृदय से सुमोहा ने कहा।

'राक्षस मंत्री उनको बुलाने नगर बाहर गये हैं।'

'ऐं ! और मुझे कुछ भी ख़बर नहीं ?'

'किसी को नहीं है। कुछ काम हो तो मुझसे कहना, मैं कर दूँगी।'

'क्यो आ रहे हैं ?' रानी ने पूछा।

'फिर कहूँगी।' कल्याणी एकदम पीछे खिसक गई और महारानी का उत्तरीय साफ़ करने लगी।

एक वृद्ध दासी आई। जैसे निद्रा-निमग्न हो इस प्रकार सुमोहा ने आँख मीच लीं।

'देवी !' खाँसकर उसने कहा।

'क्यों ?' जैसे अभी जगी हो इस प्रकार रानी ने पूछा।

'देवो ! अन्नदाता और अमात्य वक्रनास पधारे हैं।' सुमोहा प्रकृतिस्थ हुई, मेखला ठीक करते हुए बोली, 'पधारें न ?'

वह हाथ जोड़कर चली गई। स्वयं अस्वस्थ है यह प्रगट करती हुई सुमोहा आभूषणों को ठीक करके संयत हो बैठ गई।

उसका हृदय नाच रहा था। उसका भाई आंभि, तक्षशिला का युवराज आया हुआ था। वह अकेली न थी, परन्तु उसकी अपनी माँ के गर्भ से उत्पन्न उसका भाई अभी जीवित था। वह क्यों आया होगा ? क्या उसके पास मेरे सदेश पहुँचे थे ? क्या वह उसे ले जायगा ? वह छूटेगी ?

स्वातन्त्र्य—स्नेह—आशा ! उसको खण्ड में नाचते स्वर्ण-मयूरों के रूप भी फीके लगने लगे। समस्त खण्ड स्वर्णिम आभा से दीप्त हो उठा।

सुमोहा उठी। अस्त-व्यस्त परिधानों को ठीक किया और दैन्य भाव से मगध नरेन्द्र की आवभगत के लिए तत्पर हुई। क्या युवराज आंभि साथ में होंगे? नेत्रों के सामने तैरते तक्षशिला के गिरिश्रृंगों को महान् प्रयास से उसने दूर किया।

३

ऊँचा, काला, स्नायुयुक्त देह, विषय-लालसामय बाहर निकली हुई बड़ी-बड़ी आँखें, छोटा-सा ललाट, और लम्बे-लम्बे केश, स्वरूपवान होते हुए भी अनाकर्षक-मुख—यह सब मगध के नरेन्द्र हिरण्यगुप्त की ओर स्वतः ध्यान आकर्षित करते थे। उसकी चाल चोरों की सी थी। उसके अधरों पर शूद्र पितामह की स्थूलता थी। महत्ता और अधमता का प्रतीक-स्वरूप था वह।

वक्रनास द्वेषपूर्ण हास्य अधरों पर खींचे हुए पीछे-पीछे आ रहा था, उसके पीछे राक्षस था।

सुमोहा ने इन तीनों की ओर देखा और उसका स्त्री हृदय भय से आतंकित हो उठा। जैसे काले विषधर ने घेर लिया हो। वह हाथ जोड़े खड़ी रही।

'महादेवी!' नरेन्द्र उपहास करता हुआ बोला। उसके बोलने का ढङ्ग अभिमानयुक्त था।

'कृपानाथ!' करबद्ध सुमोहा ने कहा।

'बोलो, क्या दोगी? मैं बधाई लाया हूँ।'

'मै क्या बोलूँ? मेरे पास देने को क्या है?' वह मानपूर्वक बोली। परन्तु उसके स्वर में से कटुता दूर न होने पाई थी।

'वक्रनास! महादेवी बहुत लजाती हैं।'

'अन्नदाता! बड़े घरों के सुलक्षण हैं।' तिरस्कार से हँसकर

वक्रनास ने कहा। इस कुटिल कटाक्ष ने देवी के अन्तर में क्रोधानल धधका दिया फिर भी मृदुल स्वर से उसने पूछा, 'क्या आज्ञा है ?'

'आज्ञा !' नन्द ने कहा, 'आज्ञा महादेवी की होनी चाहिये।' वह हँसा। साथ मे वक्रनास भी हँस पड़ा।

'महादेवी !' वक्रनास ने ढीठ स्वर में कहा, 'देव एक आज्ञा माँगने आये हैं।'

'क्या ?'

'युवराज अभि आये हैं।' नन्द ने कहा।

भाई के आगमन का निश्चित समाचार पाकर सुमोहा के हर्ष का वारापार न रहा। परन्तु वर्षों से उस वातावरण से अभ्यस्त होने के कारण उसने अपनी प्रसन्नता को प्रगट करने की मूर्खता न की।

'कहाँ आ गये हैं ?'

'पाटलिपुत्र के सीमान्त पर।' नन्द ने कहा।

'बुलवा लीजिए।'

'आपके निमन्त्रण बिना वह कैसे आयेंगे ?' वक्रनास ने कहा।

'मेरा निमन्त्रण ! आप क्या कम हैं ?'

'भाई बहिन से मिलने आये—जमाई का उसमें कोई हक-हिसाब नहीं, वक्रनास !'

'ठीक है अन्नदाता ! महादेवी आज्ञा दें तो मैं अभी बुला लाऊँ।'

'नरेन्द्र की आज्ञा हो तो मेरी आज्ञा की क्या आवश्यकता है ? यदि उनकी आज्ञा नही तो मेरी आज्ञा किस अर्थ की ?'

'महादेवी,' नन्द ने कहा, 'आप कहेंगी तभी वक्रनास जायगा।'

'अच्छा ! मुझसे ही कहलाना है ? अच्छा, वक्रनास भले जाओ न ?'

'जो आज्ञा ! परन्तु उनका गुरु-बन्धु शकटाल के यहाँ गया है, उसको कौन बुलायेगा ?' वक्रनास ने कहा और एक अनबूझी हँसी हँसा।

'राक्षस! हाथी पर बैठाकर ले आओ। तक्षशिला के श्रोत्रिय को मान देना ही होगा।' नन्द खिलखिलाकर हँस पड़ा। महादेवी उस हँसी में छिपे रहस्य को न समझ सकी।

'आंभि क्यों आये हैं?' सुमोहा ने प्रश्न किया।

'आपको ले जाने आया होगा।' फिर एक गम्भीर अट्टहास करते हुए नन्द ने कहा।

नन्द सत्य तो नहीं कहते? क्या उसे पितृगृह जाने देंगे? निमिष-मात्र के लिये उसका अन्तर उल्लास से आह्लादित हो उठा; परन्तु उसकी दृष्टि राजा और वक्रनास के उपहासमय मुख पर जा पड़ी। क्षणिक अंकुरित आशा तुषारित हो गई।

'वह तो है ही।' वक्रनास ने कहा।

'मुझे ले जाने का क्या काम है?'

'मैं क्या जानूँ?' कहकर फिर हँस पड़ा।

हिरण्यगुप्त और वक्रनास का प्रत्येक अट्टहास महादेवी के कोमल अंतर को विदीर्ण कर देता था। आकुल आत्मा आतंकित विद्रोही के सदृश्य विद्रोह कर बैठी, फिर भी वर्षों के निरन्तर त्रास से जर्जरित साहस कुछ कर न सकता था। एक मधुर हास्य से उसने इन सब व्यंगों का सम्मानपूर्वक उत्तर दिया।

'आपको तक्षशिला जाना है?'

सभीत दृष्टि से सुमोहा ने दोनों की ओर देखा। इस प्रश्न का क्या अर्थ है? क्या उसे अपने जाल में फँसाने की इन दोनो की इच्छा है? या उसकी इच्छा जानकर उसको पीड़ित करना चाहते हैं? या किसी न किसी तरह उसको निकालने की सोच रहे हैं? इस प्रश्न में कुछ अर्थ था, परन्तु क्या?

उसके मस्तिष्क में हठ करने का विचार आया। परन्तु इसके विपरीत दूसरे विचार ने पहले को मात दे दी। अपनी इच्छानुसार कोई कुछ करने देगा? वह स्वयं निराधार थी। अकेला आंभि उसे

किस प्रकार ले जा सकेगा ? प्रसंग-परंपारागत दैन्य ही उसके पल्ले में शेष था ।

'कृपानाथ की क्या आज्ञा है ?'

'महादेवी, जैसी आपकी इच्छा।' और फिर जैसे विडम्बना करता हो उस प्रकार हँस पड़ा। सुमोहा का अन्तर अन्दर ही अन्दर तड़पने लगा।

'अन्नदाता !' वक्रनास ने एक तिरस्कृत हास्य से कहा, 'आपके राज्य में किस बात की कमी है महाराज ! जो महादेवी पिता के यहाँ जाने का विचार कर रही हैं ?'

'ठीक ही तो है !' इस शब्द-जाल में फँसकर सकपकाते हुए महादेवी ने पूर्ति की।

'मुझे कुछ भी अस्वीकार नहीं। मै तो आंभि से भी इसके बारे में कहूँगा।'

सुमोहा को स्वातन्त्र्य-आशा ललचा रही थी।

'हाँ, भाई के आने पर सब ठीक हो जायगा।'

'हाँ, चाहे जैसा क्यों न हो परन्तु बाप का घर जो है,' वक्रनास ने कुटिल उत्तर दिया। नन्द खिलखिलाकर हँस पड़ा।

सुमोहा के स्वमान की धज्जियाँ उड़ गईं। उसका वक्षस्थल क्रोध से उभर आया। उसने काली भौंहों के नीचे से आतङ्कित दृष्टि डाली। उसका वश चले तो इस दुष्ट अमात्य की गर्दन तोड़ दे। पर क्या करे वह ?

'वक्रनास ! सावधान ! महादेवी अत्यन्त क्रोधित है !' नन्द एक बार फिर उसी अपमानकारक रीति से हँस पड़ा। 'चलो अब चलें। महादेवी विराजो !' नरेन्द्र घूमा, कंचुकी आगे-आगे मार्ग-प्रदर्शन करने लगी। राजा और उनके अमात्य मंत्री ने प्रस्थान किया।

खंड-खंड धराशायी स्वमान के बीच में मगध की महारानी होंठ चबाती रह गई। वह विष कब तक पीऊँ ? मुट्ठियाँ बँध गईं। उसके

कपोलों पर अरुणिमा छा गई और पल भर पहले जो दैन्य भाव से हँस रही थी उसकी आँखों से द्वेष की लपटें निकलने लगीं।

वह पलंग पर जा गिरी और उसकी आँखों से निष्फल क्रोध के आँसू निकल पड़े। उसको इस रत्न-जड़ित कारागार में से कौन निकालेगा? सहसा कोई पीछे खड़ा हुआ हो ऐसा उसे आभास हुआ। वह चमकी। उसने अपने आँसुओं को पोंछना शुरू किया। कल्याणी दयार्द्र दृष्टि से देख रही थी।

'क्यों कल्याणी!' महादेवी ने अभिमान के स्वर में पूछा, 'क्या काम है?'

'महादेवी! मुझे दूसरी क्यों समझती हैं?'

'फिर?' स्वस्थ हो सुमोहा ने पूछा।

'मैंने सब सुना है। मेरी बात ठीक निकली न?'

'उससे क्या लाभ?'

'महादेवी, मैं आपकी सहायता करना चाहती हूँ। आप अविश्वास न करें।'

'मेरी मदद करने को कौन तैयार नहीं है?'

कल्याणी पर उसका विश्वास न था। नन्द और वक्रनास की प्रपंचमयी दुनिया में कौन भला और कौन बुरा? सुमोहा जानती थी कि यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति गुप्तचर है।

'महादेवी! आप विश्वास क्यों नहीं करतीं?'

'यह सब बातें करने में तेरा क्या लाभ है?'

'महादेवी! मेरा कोई लाभ नहीं, वरन् हानि ही है। यदि किसी दासी को पता चल जाय तो मेरा सिर उड़ा दिया जायगा।'

'फिर ऐसा काम क्यों करती है?'

'महादेवी, मैं माँ हूँ—थी। मेरी एक पुत्री थी। इस समय वह जीवित होती तो ठीक आपके बराबर होती।'

'क्या वह मर गई।'

'हाँ, जो अभी आपको चिढ़ा रहा था उसीने पहले उसे वशीभूत किया और फिर रुला-रुला उसके प्राण ले लिये।'

'किसने ?' आँखे फाड़कर सुमोहा ने पूछा।

'और किसे बताऊँ स्वयं कृपानाथ ने !' कटु हँसी हँसकर कल्याणी बोली, 'मैं आपको दुखी देखती हूँ तो मुझे अपनी बेटी की याद आती है।'

'कल्याणी ! मेरी विश्वासपात्र बनने की युक्ति तुझे किसने सुझायी है ? वक्रनास ने ?'

'महादेवी ! अभी भी विश्वास नहीं हुआ ?'

'मगध में किसका विश्वास और किसका नहीं।'

'मेरी परीक्षा कर देखो ! सुनो, एक बात कहती हूँ। ठीक लगे तो विश्वास करना।'

निर्वाक् सुमोहा देखती रही। कल्याणी ने सतर्कता से चारों ओर देखकर मन्द स्वर में कहा, 'युवराज आभि और उनके गुरुबन्धु दोनों आये हैं। सीमान्त से राक्षस उन्हें लेने गया था। राक्षस ने नरेन्द्र के शासनानुसार ब्राह्मण गुरुबन्धु को हाथी पर न बैठने दिया; इसलिये युवराज ने आने से इन्कार कर दिया है।'

'ऐसा ?'

'हाँ, और गुरुबन्धु ने कहा कि ब्राह्मण पैदल अवश्य जायगा परन्तु केवल शकटाल आचार्य के घर तक। और वह पैदल ही शकटाल के यहाँ गया है।'

'हूँ,' सुमोहा ने कहा, 'अब समझी।'

'समझीं न, आपसे क्या पूछने आये थे ?'

'कल्याणी, तू मुझे ललचाकर मरवाना चाहती है ? क्या करने की ठानी है तूने ?'

'महादेवी ! अब भी अविश्वास है ?'

सुमोहा बोली नहीं। अगर यह दासी विश्वासपात्र हो तो कितना अच्छा हो?

'तुझे यह सब बातें किस तरह मालूम हुईं?'

'ठीक उतरी न? आपको परीक्षा करनी हो तो कर ले।'

'तू ख़बर ला और ले जा सकती है?'

'किसके पास ख़बर भेजना चाहती हैं?'

'युवराज आंभि को!' बैठते हुए महादेवी ने कहा, 'एक संदेशा कह देगी?'

'कहो, कौन सा संदेशा भेजना है?' कल्याणी ने एक बार फिर चारों ओर देखा।

'आंभि को कहलवा दे कि यदि वह मुझे यहाँ छोड़ जायगा तो दूसरे ही क्षण प्राण दे दूँगी!' दृढ़ता से सुमोहा ने कहा।

'अच्छा', कहकर वह जाने लगी।

'कल्याणी! यह सन्देशा मिल गया, इसका क्या प्रमाण?' सहमकर महादेवी ने कहा।

'महादेवी! प्रमाण में युवराज आपके बचपन की एक सहेली की मृत्यु का समाचार देंगे। उसका नाम क्या रखना है?'

'कल्याणी!'

'अच्छा, फिर विश्वास होगा। हिम्मत रक्खो महादेवी!' कहकर कल्याणी चली गई।

'मुझमें कुछ भी बाकी नहीं रहा।' महादेवी बड़बड़ाई।

४

एक मैना पींजरे में से बोली, 'महादेवी! क्या कर रही हैं?'

एकदम चौंककर सुमोहा फिरी, और दाँत पीसने लगी। इस छोटे पक्षी की गर्दन तोड डालने को उसके हाथ तरसने लगे। वह उसकी

रात-दिन की बैरिन थी। इस भयंकर अंतःपुर की वह जासूस थी और जितने व्यक्ति आते थे उनके नाम की रटना लगाये रहती थी। सर्प के विष से राजा को चैतन्य करने का एक साधन थी। पक्षी भी इस राज्य में निर्बोध न थे।

'चुप!' सुमोहा ने क्रोध से कहा।

'नरेन्द्र, वक्रनास, राक्षस' 'नरेन्द्र, वक्रनास, राक्षस, कल्याणी' सुमोहा क्रोध में पींजरे के पास गई और एक क़दम आगे रक्खा। सहसा उसे याद आया, एक बार उसने ऐसी एक मैना को मार डाला था और परिणाम-स्वरूप वक्रनास के अतिरिक्त कोई उससे न मिल पाता था। उस कलमुंहे से यह मैना क्या बुरी है?

'नरेन्द्र, वक्रनास, राक्षस, कल्याणी' पक्षी अपना कर्तव्य-पालन करने लगा।

'महादेवी! आज्ञा है?'

'कौन सेनाजित!' रानी ने झूठी हँसी हँसने का प्रयास करते हुए कहा।

'हाँ।'

सेनाजित आया। अंतःपुर सैन्य का अध्यक्ष लगभग पच्चीस वर्ष की अवस्था का एक युवक था। राक्षस जैसे ही शस्त्र—केवल धनुष के अतिरिक्त—और उससे थोड़े परन्तु बहुमूल्य आभूषण पहने था।

उसका स्वरूप अत्यन्त आकर्षक था। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें जैसी निर्मल थी वैसी ही निडर थीं। उसकी सीधी, सुघड़ नासिका और उसके विलासोत्सुक अधर उसके व्यक्तित्व के आकर्षण के सबल साधन थे। उसका कंठ-स्वर मधुर और गम्भीर था।

शंका, क्रूरता और नीचता के तमसान्धकार में रुद्ध उस वातावरण में वह एक प्रकाश-बिन्दु के सदृश्य था। वह ऐसे स्थल में कहाँ से आ गया, यह प्रश्न उसे देखते ही स्वाभाविक रूप से उठ पड़ता था।

केवल उसी के ही कारण अंतःपुर का यह असह्य वातावरण सह्य हो जाता है, ऐसी वहाँ के अनेक व्यक्तियों की धारणा थी।

अंतःपुर में उसकी सत्ता सर्वोपरि थी। कौन आया, कौन गया, कौन किससे मिला, किसने किससे क्या कहा यह सब क्षण-क्षण की खबर रखने वाली यावनिकाएँ, स्त्री, पुरुष, दासियाँ, परिचारिकाएँ गुप्तचर और पक्षी उसे खबर देते थे। प्रत्येक रानी की गृह-व्यवस्था और उसके रहन-सहन पर उसका निरंकुश शासन चलता था। जिस रानी के महल में महाराज जानेवाले हों वहाँ प्रत्येक प्रकार की आवश्यक खोज-खबर लेता था, और संरक्षण के हेतु उचित व्यवस्था करता था।

अंतःपुर का वह जेलर था, परन्तु उसके हास्य और निर्द्वन्दता-पूर्ण आचरण से इस कैदखाने के दुखी कैदी अपने दुःख भूल जाते थे। कर्तव्याभार से लदे होने के कारण दिये हुए प्रतिबन्ध वह हँसकर सह लेते थे।

महाराज के मोहनगृह के भयंकर अगम्य भेदों का भी वह ज्ञानी था। वह चाहे तो कितनों को सुखी करे और कितनों को दुखी करे, जीवनदान दे या मृत्यु, इसकी गिनती गिनने की किसी की भी सामर्थ्य न थी। समस्त अंतःपुर में नरेन्द्र और अमात्य वक्रनास से उतरकर उसी की चलती थी परन्तु फिर भी उसकी सत्ता सर्वव्यापी थी।

ऐसा कहा जाता था कि नरेन्द्र का अन्तर यदि कोई पढ़ सकता है अथवा उसके हृदय की कोई बात जाननेवाला है तो सेनाजित। सेनाजित के पिता बयालीस वर्ष तक अंतःपुर की सैन्य के अधिष्ठाता रह चुके थे, और हिरण्यगुप्त और उसके पिता—दोनों का और उनके अंतःपुर के संरक्षण का कार्यभार उन्होंने सन्तोषप्रद रूप से वहन किया था। उनके समय में मोहनगृह और अंतःपुर में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसकी कौन कल्पना कर सकता है।

सेनाजित धननन्द की गोद में खेला था। अपने पुत्र को अपने से

दूर और जासूसों को गीध-दृष्टि में रखते हुए भी राजा का अन्तःकरण अन्तःपुर के इस अध्यक्ष-पुत्र के प्रति आर्द्र था।

जब से सेनाजित ने होश सँभाला उसने नरेन्द्र की भक्ति स्वीकार की थी, जब से उसकी मानसिक वृत्ति जागृत हुई तभी से उसने अन्तःपुर के रहस्यों को समझना शुरू कर दिया था। जब उसके पिता का देहावसान हो गया तब बाइस वर्ष की अवस्था में उसने यह उत्तरदायित्व-पूर्ण पद ग्रहण किया। जब तक सेनाजित अंतःपुर का अध्यक्ष है तभी तक वह सुरक्षित है ऐसी धननन्द की धारणा थी।

उसका साहस अडिग था। अन्तःपुर के आन्तरिक द्वन्द्व से वह पूर्णतया परिचित था। उसका एक ही धर्म था : नरेन्द्र-भक्ति।

सेनाजित सुमधुर हास्य से अपनी मुखाकृति को और भी सुन्दर बनाये हुए, नम्रता की प्रतिमा के सदृश्य खड़ा रहा। मैना ने अपनी कथा सुनाई, 'नरेन्द्र, वक्रनास, राक्षस, कल्याणी' इस रहस्य का उद्घाटन करना उसका कर्तव्य था। जैसे उसने कुछ सुना ही न हो ऐसी निर्बोध दृष्टिकर वह महादेवी की ओर देखते हुए अपना कर्तव्य-पालन करने लगा। इसका—गुप्तचरों के नायक का—विनय अभिनय यथार्थ में अद्भुत था।

सुमोहा ने ज़रा घबराकर देखा : सेनाजित के मुख पर निश्चल स्वाभिमान की गम्भीर छाया अंकित थी। 'क्या आज्ञा है?'

सुमोहा ने थोड़ी देर विचार किया। यही एक व्यक्ति बात करने योग्य था। कैदियों के परतन्त्र जीवन का विस्मरण कराने का प्रयत्न करता था। वह हँसी। 'तुम्हें मालूम है क्या; मेरे भाई आंभि आए हैं।'

'मुझे अभी नरेन्द्र देव ने कहा है।' सेनाजित ने हँसकर कहा, "बड़ा आनन्द रहेगा।'

'यहाँ भी आनन्द की क्या कमी है?' सुमोहा ने अंतःपुर में प्रचलित शिष्टाचार से वहाँ की प्रत्येक वस्तु आनन्दप्रद है उसको स्वीकार किया।

'आनन्द में भी आनन्द की वृद्धि अभिनन्दनीय होती है।'

'ठीक है।' सुमोहा ने कहा।

'महादेवी! तक्षशिला जाने का विचार है क्या?' सेनाजित ने हँसकर स्नेहआर्द्र स्वर में पूछा।

सुमोहा इस निर्बोध दीखते अध्यक्ष की ओर देखती ही रही। यह स्नेह भरा युवक अन्तःपुर का भेदिया था।

'मैं किस लिये जाऊँ?' रानी ने हँसकर बात उड़ा दी। 'पर सेनाजित, तुम्हारा विवाह कब होगा?'

'आश्चर्य शकटाल दिन निश्चित करें तब तो?'

'उन्होंने अपनी पुत्री के विवाह की आज्ञा दे दी क्या?'

'नरेन्द्र देव ने दिलवायी।'

'फिर किस बात की देरी है?'

'अभी मङ्गल नक्षत्र नहीं आया।'

'तुम फिर यहाँ पर दिन-रात काम कैसे करोगे?'

सेनाजित हँसा। 'जैसे अब करता हूँ उसी तरह से, नरेन्द्र देव ने आठ पक्ष के लिए बाहर रहने के लिये छुट्टी दे दी है।'

'गौरी यहाँ नहीं रहेगी?'

'नहीं।' संकेत से ही सेनाजित ने कहा। स्त्री को याद यहाँ रखना हो तो विवाह ही न करना चाहिये—यह सूत्र सेनाजित ने अपने लिये स्वीकृत किया।

सुमोहा को क्षोभ हुआ। हिरण्यगुप्त की महादेवी होने से अध्यक्ष की पत्नी होने में कितना सुख रहता!

'सेनाजित!' सुमोहा ने पूछा, 'कुमार चन्द्रगुप्त का कोई समाचार आया?'

निमिषमात्र के लिये सेनाजित की मुखाकृति पर कुछ असमंजस्यता छा गई। सुमोहा ने बड़े ध्यान से उसकी ओर को देखा।

'कुमार प्राग्ज्योतिष की ओर निकल गये हैं।'

'शिकार करते-करते कहाँ से कहाँ निकल गये ?' सहज भाव से रानी ने पूछा।

'गत रात्रि को ही यह समाचार आया है। आप कुमार की वीरता को नहीं जानतीं ! दासी !' सेनाजित ने पुकारा।

'पर वह प्राग्ज्योतिप क्यों गये हैं ?'

'मुझे विश्वस्त खबर नहीं मिली है।' इतने में एक दासी आई। 'नन्दिनी ! महादेवी के भोजन की तैयारी कर !' सेनाजित ने कहा।

'सेनाजित, कोई अच्छी-बुरी खबर हो तो कहो न ?'

'जो आज्ञा !' नम्रस्वर में सेनाजित ने कहा। 'कहा जाता है कि प्राग्ज्योतिप की राजकुमारी पर कुमार मुग्ध हो गये हैं। नन्दिनी ! सब तैयारी कर। महादेवी ! आज्ञा है, मैं जाऊँ ? मुझे भी भोजन करना है।'

'हाँ।'

सेनाजित प्रणाम कर हँसता हुआ चला गया। उसके जाने के उपरान्त नन्दिनी महादेवी के पास आई। वह एक नई कम उमर की दासी थी।

'माता !' उसने मन्द स्वर में सुमोहा से कहा, 'यह बात झूठी है।'

'कौन सी ?' चौंककर सुमोहा ने पूछा।

'कुमार की ! उनको तो मरवा डाला !'

सुमोहा ने घबराकर दरवाजे की ओर देखा एक यावनी खड़ी थी।

नन्दिनी घबरा गई। अपने से हुई भूल का उसको आभास हुआ। उसकी आँखें विस्फारित हो गईं। कौन जाने किस तरह से इतनी धीमी और सरल बात जो उसने की थी वातावरण में गूँजने लगी।

'बाहर आ !' यावनी ने कहा।

नन्दिनी घबराकर बाहर निकली।

'नंदिनी! भोजन तैयार कर!' सुमोहा ने कहा। नन्दिनी बाहर गई और जैसे उसको यावनिका पकड़ ले गई हो ऐसा सुमोहा को आभास हुआ। रानी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी।

थोड़ी देर बाद कल्याणी भोजन तैयार होने की सूचना देने आई।

'नन्दिनी कहाँ है?' सुमोहा ने कहा।

'दूसरे किसी काम में फँसी हुई है,' कल्याणी ने गम्भीर स्वर में कहा, और धीरे से होंठ हिलाकर बोली, 'आपसे धीरे बोलने का अपराध उसने किया है।' फिर ज़ोर से बोलकर कहा, 'पधारिये, भोजन तैयार है।'

सुमोहा का सिर घूमने लगा, आँखों पर हाथ रखकर भूमि पर बैठ गई।

५

हँसता हुआ सेनाजित अन्तःपुर से बाहर निकला। मेघग्रस्त अन्तःपुर की सृष्टि में वह सूर्य-किरण था। जहाँ वह जाता वहीं नवीन आशा और नवजीवन स्फुरित हो उठता था।

सेनाजित का अन्तर इस समय आह्लादित था। नरेन्द्र की कृपा, धन-वैभव, सदैव प्रसन्न-प्रकृति और सब को आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति, यह सब एक स्थान पर मिल जाने पर मनुष्य क्यों न प्रसन्न हो? परन्तु इस समय उसकी प्रसन्नता का सर्वोपरि कारण था: वह अपनी प्रियतमा से मिलने जा रहा था।

सुखी प्रणयी के हृदय में सुख-सृजन की, सुख-स्वप्नों को स्पष्ट देखने की और सुख-प्रसरण की अद्भुत क्षमता होती है। सेनाजित की यह शक्ति स्वाभाविक थी और वह एक सुखी प्रेमी था। 'गौरी! गौरी!

गौरी !' उसका प्रफुल्ल अन्तर गाता था और समस्त सृष्टि उसकी रागिनी में लय हो उन्मत्त नर्तन कर रही थी।

अंतःपुर के रम्य उद्यान से बाहर जाते समय उसके नेत्रपटल पर कल्पना की कोमल तूलिका से चित्रांकित केवल एक ही सुन्दरी की छाया थी—उसकी दृष्टि केवल उसी को देख रही थी।

आज चार मास बीत गये। प्रतिदिन सबेरे और शाम वह अपने प्रासाद को जाता और वातायन से खड़ा-खड़ा, एकटक देखा करता था। गौरी—कोमल, नम्र, हँसमुख गौरी—सोन के पनघट से पानी भरने आती, गौरी को देखने के लिए वह तरसता था। वह आती, बहुत देर के बाद सखी सहेलियों के साथ-साथ, कभी अकेली। देखते ही सेनाजित का हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगता, वह पास आती तब स्मित नैनो से उसका स्वागत करता था। खुले आँचल को खोसती, सखियों से ठठोली करती, मधुर कलहास करती, गौरी की पलकें ऊपर उठ जातीं और ठहर जातीं थीं उसी झरोखे पर। दोनों की आँखें चार हो जाती। उस मंगल घड़ी में पृथ्वी प्रसन्नता से रोमाञ्चित हो उठती थी। दूसरे ही क्षण गौरी लज्जा से नीचे झुक जाती और कपोलो पर फैली मधुर अरुणिमा को छिपाती चली जाती थी। पथ पर अदृष्ट होने तक आँखों मे प्राण पिरोये निर्निमेष देखा करता था, और फिर कल्पना-बल जहाँ तक उसे मूर्तिमान रख सके वहाँ तक दृष्टि स्थिर कर देखा करता था।

फिर वह वहाँ से हट जाता केवल वहाँ खड़े होने की बलवती उत्कंठा का अनुभव करने के लिये। चार मास हुए जब से नरेन्द्रदेव ने उसे घर जाने की छुट्टी दे दी थी तभी से केवल इतनी ही देर के लिये वह जीता था।

निमिषमात्र के लिये वह अधीर हो उठा। आचार्य शकटाल किस लिये विलम्ब कर रहे हैं? कितने वर्षों तक उसने प्रतीक्षा की थी?

धननन्द के पिता योगनन्द के राज्यकाल में शकटाल अमात्य थे, तब वह और गौरी साथ-साथ खेले थे। फिर शकटाल राजद्वेषाग्नि से दग्ध हुए और वक्रनास की ईर्ष्या के कारण धन, मान, और समस्त वैभव से हाथ धो बैठे। उस समय भी वह राजा की आज्ञा का अक्षरशः पालन करनेवाले, अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर गौरी को देखने जाता था। फिर योगनन्द की कृपादृष्टि शकटाल की ओर फिरी और, तभी से उसे गौरी से मिलने में सरलता होने लगी; अन्त में हिरण्यगुप्त नरेन्द्र की आज्ञानुसार शकटाल ने उससे विवाह करना स्वीकार किया। उसकी इस मधुर प्रणय-कथा का स्मरण उसे हो आया। अब उसका मंगलकारी परिणाम कब आवेगा?

आगे के उद्यान को पारकर यावनिकाओं को सावधान रहने की आज्ञा दे, मंत्रणागृह के सामने से वह जा रहा था त्योंही एक परिचारक मिला।

'महाराज, अमात्य आपको बुलाते हैं।'

'मंत्रणागृह में हैं?' उसने पूछा।

'हाँ।'

दो लम्बे-लम्बे डग भरकर वह मंत्रणागृह में गया। एक ओर मृगचर्म की शय्या पर वक्रनास भयंकर नीरव में आतंक का प्रसरण किये बैठा था। उसके होंठ समस्त सृष्टि के प्रति मूक तिरस्कार प्रदर्शित कर रहे थे। इस खण्ड के ठीक दूसरे सिरे पर कितने ही मंत्री अपने-अपने काम में निमग्न थे। सेनाजित ने जाकर अमात्य को अभिवादन किया।

'सेनाजित!' मन्द स्वर में वक्रनास ने पूछा, 'सब कैसे हैं?'

'ठीक हैं।'

'देखना, हाँ!' मुख टेढ़ा करते हुए वक्रनास ने कहा।

'चिन्ता न करें,' सेनाजित ने मधुर हास्य से कहा, 'क्या आज्ञा है?'

'शकटाल के यहाँ ज़रा चले जाओ।'

सेनाजित का हृदय प्रसन्नता से फूल उठा। उसके मुख पर प्रसरित मधुर स्मित को ओर अमात्य निर्दयता और तिरस्कार की दृष्टि से देख रहा था।

'क्यों ?'

'उसके यहाँ तक्षशिला का ब्राह्मण आया है—आंभि के साथ। तू अपने लग्न की तिथि तय कर आ, समझा ?' वक्रनास ने हँसकर बहाना ढूँढ़ निकाला।

'वह ब्राह्मण कौन है ?'

'उसका नाम है विष्णुगुप्त। कहते हैं पहले पाटलिपुत्र में रहता था। शकटाल उसे पहचानता होगा। शायद उसका शिष्य है। समझा ? साथ में तेरा भी काम हो जायगा।'

'जैसी आज्ञा।'

'देखना, सावधान रहना।'

'मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। और कुछ आज्ञा है ?'

'नहीं।'

सेनाजित हँसा और नमस्कारकर चल दिया। शकटाल के घर जाने की आज्ञा पा वह और भी अधिक प्रफुल्लित हुआ। उस संस्कृति-पूर्ण युग में श्वसुर-गृह गुप्तचर बनकर जाने में सेनाजित तनिक हिच-किचाया परन्तु नंद के समय में यह काम उचित जान पड़ा।

प्रसन्न मुख और उत्साहपूर्ण हृदय किसी तरह राजगृह को पार कर अश्वारूढ़ हो अपने प्रासाद की ओर चल पड़ा। उसका प्रासाद राजगृह की हस्तिशाला के बगल में सोन के तट पर स्थित था। कुटुम्ब में वह अकेला व्यक्ति था; और अधिकतर समय राजगृह में ही व्यतीत कर देने के कारण उस विशाल प्रासाद का बहुत-सा भाग सदैव बंद रहता था।

एक साधु प्रासाद की प्राचीर से सटकर खड़ा हुआ था।

'महाराज ! भिक्षा !'

'भिक्षा माँगने के सिवाय और भी कोई काम है?' हँसकर सेनाजित ने कहा।

'आपको आशीर्वाद देने का। आपकी जय हो!'

परिचारकों ने द्वार खोल दिये और सेनाजित के पीछे-पीछे साधु अन्दर घुसा।

'इसे भिक्षा दे दो!'

'जैसी आज्ञा।'

सेनाजित अन्दर चला गया और अनुचर ने क्रोधित हो साधु से कहा—'निकम्मा! काम न धन्धा।'

साधू वहीं बैठ गया और अनुचर अन्दर चला गया।

सेनाजित ने संरक्षण-कवच उतार दिया और उसी झरोखे के सामने जाकर खड़ा हो गया।

उसने नदी की ओर से आती पगडण्डी को देखा और अवरुद्ध श्वास से आनेवालों को देखने लगा। थोड़ी देर बाद कल्पना ने अपना सूक्ष्म देह धारण किया। मदमाती चाल, झुकी हुई नासिका, तेजस्वी नेत्र, उज्ज्वल घट और मोहिनी दृष्टि; और अद्भुत हास्य—उसकी कल्पना ने सृजन किये। प्रत्येक रङ्गीन कपड़े पर दृष्टि पड़ते ही उसका हृदय उछलने लगता था......।

......वह आई! एक सखी के साथ। जैसे सेनाजित के प्राण उस ओर उड़ गये हों। आँख भर-भरकर वह निहार रहा था। वही गौरी थी, वही चाल, और वही गागर थी! ......सेनाजित के हृदय पर आघात हुआ। आज चाल में इतनी तीव्रता क्यों है? आज इतनी अस्तव्यस्तता क्यों है? उसने गौरी के चंचल नेत्रों को देखा। उनमें ऐसी उत्सुकता क्यों थी?

वह खिड़की के नीचे आई। सेनाजित नेत्र-सम्मेलन के लिये आतुर खड़ा रहा। वातावरण में अन्धकार छाने लगा। आज गौरी

उतावली से सखी के साथ बातें कर रही थी—उसमें आँखें मिलाने की उत्कंठा न थी।

सेनाजित से न रहा गया। उसने एक बार खाँसा। गौरी ने ऊपर देखा, और तेजी से चली गई। वह हँसी परन्तु प्रयत्न करने पर। सेनापति का श्वास रुँधने लगा। उसके हृदय पर एक बोझ आ पड़ा था।

वह गुनगुनाता हुआ गौरी को देखता रहा। समस्त सृष्टि उसे प्रलयवत् प्रतीत हुई। खिडकी पर उसने सिर टेक दिया। उसे कुछ हो रहा था। प्रियतमा आई और लौट भी गई, परन्तु उसके लिये नहीं। पूर्णिमा आई और चली गई, परन्तु उसके लिये अन्धकार ही अवशेष था।

उसका मन गौरी का अनुसरण करने को कहता था, परन्तु खिन्न हृदय से उसने अपनी बलवती इच्छा को दूर किया। उसका अनुचर उसके लिये पाट रख गया था, उसे लात मारकर दूर फेंक दिया।

'आनन्द !' उसने आवाज दी।

'अन्नदाता !' अनुचर ने बाहर से उत्तर दिया।

'भोजन का समय हुआ कि नहीं ?'

'जी हाँ, अन्नदाता !' कहते हुए आनन्द आया, थाल को रखा और जाते-जाते द्वार बन्द कर दिये।

सेनाजित ने द्वार अन्दर से बन्द किये और खाने की थाली का ढक्कन उठाया और आधा खाना ढक्कन में अलग निकालकर बाकी को स्वयं खाने लगा। फिर उसने हाथ धोये, हाथ में ढक्कन लिया और अन्दर का द्वार खोलकर उसमें गया।

अन्दर के खण्ड में जाकर उसने एक मशाल जलायी और स्तम्भ का कड़ा खींचकर तहखाना खोला। फिर एक हाथ में मशाल और दूसरे हाथ में खाना ले नीचे उतरा।

नीचे तहखाने में झूले पर एक आदमी सो रहा था।

६

जैसे ही सेनाजित नीचे उतरा वह सोया व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया।

'कौन है?'

'कोई नहीं, मैं हूँ।' सेनाजित ने कहा।

'क्या काम है? मारने आये हो?' उसने हँसकर पूछा और एक क़दम पीछे हटकर अपने संरक्षण के लिये तैयार हो गया।

'मैं खाना लाया हूँ।'

'उसके अन्दर विष होगा।'

'नहीं।' सेनाजित ने हँसकर ढक्कन पृथ्वी पर रख दिया। यह व्यक्ति सेनाजित का समव्यस्क लगता था, परन्तु उससे एक अंगुल ऊँचा।

वह जरा श्याम वर्ण का अवश्य था और उसकी मुखाकृति भूख और कष्ट से निस्तेज पड़ गई थी, फिर भी तेजस्वी भाल, कटीले नेत्र और सघन गुच्छेदार लम्बे केश, उसके विशाल स्कन्धो पर पड़े हुए थे।

उसके वलिष्ठ और स्नायुयुक्त अंग उसकी असाधारण शक्ति के सूचक थे, और उसके बहूमूल्य अलंकार और आवरण उसकी वर्तमान स्थिति में कौतूहलता उत्पन्न कर रहे थे।

उसका कंठःस्वर गम्भीर परन्तु उसमें थोड़ा-सा व्यंग और उपहास मिश्रित था।

'खाने बैठोगे?' सेनाजित ने पूछा।

'हाँ, पर और कुछ बात तो कह,' अज्ञात पुरुष ने कहा, 'नयी या पुरानी।'

'सब प्रसन्न हैं।' सेनाजित ने कहा।

'अब मुझे कब मार डालनेवाले हो ?'

'अरे ! ऐसी बातें क्यों करते हो ?'

'तब कोई दूसरी बात ? अच्छा, तेरे देवाधिदेव कैसे हैं ?'

'कौन नरेन्द्रदेव ?' हँसकर सेनाजित ने कहा, 'आनन्द-पूर्वक हैं।'

'वक्रनास और उसका बाहर निकला हुआ होंठ किस तरह है ?'

'दोनों ठीक हैं।'

'तेरी गौरी कैसी है ?'

'वह भी ठीक है।' हृदय की व्यथा को छिपाकर सेनाजित ने कहा।

'तब मेरे सिवाय कोई भी ख़राब नहीं है।'

'आपको क्या दुःख है ?'

'मुझे क्या दुःख हो सकता है, तेरे इस आनन्दपूर्ण तहखाने में ? तू भी यहीं रहा कर !'

'आज आभि आये हैं।' सेनाजित ने कहा।

'कौन ?'

'तक्षशिला के युवराज।' सेनाजित ने कहा।

'अब महादेवी मुक्त होंगी।'

'ऐसा क्यों कहते हो ?'

'सब तेरे जैसे मूर्ख थोड़े ही हैं जो राजगृह को अमरावती मानते हो ?'

'महादेवी को क्या दुःख है ?'

'उनको सुखी कहनेवाला एक तू ही है; उनका वश चले तो कल ही तक्षशिला पहुँच जायँ।'

'एक बात कहूँ, आभि के साथ-साथ उसका एक गुरुबन्धु आया है। राक्षस मंत्री ने उसे हाथी पर बैठने का निषेध किया, इसलिये क्रोधित हो वह पैदल चलकर आचार्य के यहाँ गया है।'

'क्यों ?'

'कहता था कि इस नगर में अगर ब्राह्मण पैदल जायगा तो केवल शकटाल के दर्शन के लिये ही।'

'शाबाश! ब्राह्मण है न ?' अज्ञात पुरुष ने अपनी स्वाभाविक लापरवाही छोड़कर ध्यान-पूर्वक सुनना शुरू किया। 'उसका नाम क्या है ?'

'नाम विष्णुगुप्त है!'

'विष्णुगुप्त !' क़ैदी ने निमिषमात्र के लिये विचार किया। सहसा उसकी आँखें चमक उठीं।

'क्यों पहचानते हो क्या ?'

क़ैदी हँस पड़ा, 'मैं इतने विष्णुगुप्त को जानता हूँ कि यह उनमें से कौन-सा है यह कहना कठिन है। परन्तु सेनाजित मेरा कहा मानोगे ?'

'क्या ?'

'मुझे भाग जाने दे तो तुझे जो माँगे वह दूँ।'

'नरेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन मैं कैसे कर सकता हूँ ?' सेनाजित ने पूछा।

'तुझे क्या लालच दूँ ?'

'मैं कभी नहीं ललचा सकता।'

'ठीक है, तब तुझे बिना ललचाये ही मैं निकल जाऊँगा।'

'वह मैं देख लूँगा।'

'देखना,' हँसकर क़ैदी ने कहा, 'आती पूर्णिमा तक मैं मगध छोड़ दूँगा।'

'मैं तुम्हें पकड़ने आ पहुँचूँगा।' हँसकर सेनाजित ने कहा।

'सेनाजित, मुझे बाहर निकल जाने दे। फिर देखता हूँ मुझे कौन पकड़ सकता है। वह तो मैनाकी मूर्ख निकली।'

जेलर की-सी उदारता से सेनाजित क़ैदी की प्रशंसा सुन रहा था।

'अब मैं जाता हूँ।'

'आना, अपने देवाधिदेव, वक्रनास और आभि को मेरा प्रणाम कहना और कहना कि मैं मज़े में हूँ।'

'और कुछ?'

'और याद रखना कि आती पूर्णिमा को मै मगध के बाहर होऊँगा।'

'तीन पूर्णिमा तो बीत गईं।'

'आगामी पूर्णिमा खाली न जाने पावेगी।'

सेनाजित ढक्कन लेकर ऊपर चढ़ा और तहखाना बन्द करके बाहर निकला। कैदी की बातों में कुछ सत्य भी है? वह तो हमेशा ही ऐसे कहा करता है, परन्तु आज उसके स्वर में इतनी दृढता क्यों है? विष्णुगुप्त का नाम सुनकर? यह विष्णुगुप्त कौन है?

सहसा उसकी समझ में सब कुछ आ गया। अपनी गौरी की उतावली का उसे स्मरण हो आया—वह जल्दी-जल्दी जा रही थी क्योंकि उसके यहाँ विष्णुगुप्त अतिथि आया था। उसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई—उसकी गौरी इस ब्राह्मण के पीछे इतनी मतवाली हो गई?

उसने विष्णुगुप्त को वृद्ध समझा था, तो क्या यह व्यक्ति युवक है? वह दाँत पीसता हुआ बाहर आया और वक्रनास की आज्ञानुसार शकटाल के घर जाने का निश्चय किया। उसका हृदय गौरी और विष्णुगुप्त से मिलने को अधीर हो उठा।

७

सेनाजित हमेशा अश्विनदेव के मन्दिर में दर्शन करने जाया करता था, आज भी गया। केवल उसके दो अनुचर अश्वारोही उसके पीछे-पीछे आ रहे थे।

राजगृह की दक्षिण दिशा में, नगर के मध्यभाग में जयंत, वैजयन्त वैष्णव और देवताओं के वैद्यराज अश्विनीकुमार के मन्दिर थे। थोड़ी

दूर पर घननन्द की आज्ञा से निर्मित पाखण्डी मत के अनेक स्तूप खड़े थे।

अश्विनीकुमार का मन्दिर बहुत पुराना था और लोगों का कहना था मगधराज शिशुनाग ने इसे चार सौ वर्ष पहले बनवाया था। गर्भद्वार के सामने एक विशाल विस्तृत चौक था; और यह कहा जाता था कि मगधराज बिम्बिसार के समय में एक सहस्र श्रोत्रिय बैठकर वेदोच्चार करते थे। परन्तु घननन्द की कृपा अश्विनों पर न थी, इसे मन्दिर का प्रत्येक पत्थर बता रहा था। इस समय वह चौक तीन-चार साधुओं के अतिरिक्त बिल्कुल निर्जन था। मन्द प्रकाश से जलता हुआ एक दीपक अश्विनीकुमार की भव्य मूर्ति के थोड़े से भाग पर प्रकाश डालता हुआ अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था।

परन्तु सेनाजित की अश्विन पर असीम श्रद्धा थी। उसने साष्टांग दण्डवत कर पुजारी को दक्षिणा दी।

'सेनाजित महाराज! सौ वर्ष जिओ!' नष्ट हुए गौरव की खण्डित प्रतिमा के समान दरिद्र पुजारी ने आशीर्वाद दिया और पूछा, 'महाराज! गाँव में जो चर्चा हो रही है क्या वह सच है? कहते हैं; एक विद्वान ब्राह्मण पैदल चलकर आचार्य के यहाँ गया?'

'हाँ,' हँसकर सेनाजित ने कहा, 'तुम्हें भी मालूम हो गया, क्यों?'

'महाराज!' वृद्ध पुजारी ने गर्दन हिलाकर कहा 'बहुत अनर्थ हो रहा है, जिसके पुण्य···'

'जो गर्वोन्मत्त हो वह क्या पुण्यशाली हो सकता है?' हँसकर सेनाजित ने पूछा।

'महाराज! श्रोत्रियों की अवगणना—' पुजारी उठा, 'चलो महाराज! हम सब इन्हीं देवों के बालक हैं। मै भी इस बुढ़ापे में उनके दर्शन कर आऊँ!'

'किसके ? जो आये हैं उनके ?' ज़रा विस्मित स्वर मे सेनाजित ने पूछा।

'महाराज ! हमें आप के नये विचार नहीं भाते। हम वृद्ध हुए। परन्तु मरते दम तक भी जो तपोधनो के दर्शन कर कृतार्थ होंगे वही महान् हैं !' कह वृद्ध चलने लगा।

सेनाजित थोड़ी देर तक उस वृद्ध को जाते हुए देखता रहा। नन्द की सभा के जो सभासद ब्राह्मणो के प्रति तिरस्कार को सहन करते थे वह स्वाभाविक था तथापि सेनाजित ब्राह्मण-कन्या से विवाह करने का इच्छुक था फिर भी वह उस स्वाभाविक तिरस्कार का विस्मरण न कर सका। आचार्य शकटाल गौरी के विवाह का निश्चित निर्णय न कर पाये थे इसमें भी उसे ब्राह्मणीय आडंबर की झलक दीखती थी। न मालूम ब्राह्मण कैसा होगा ? क्रोध और ईर्ष्या से सेनाजित की सुन्दर मुखाकृति अनाकर्षक हो गई। यह व्यक्ति कौन है ? इस समय क्यों आया है ? गौरी के घर क्यों उतरा है।'

सेनाजित इस नवागत व्यक्ति को देखने के लिए अत्यन्त ही उत्कंठित था। उसने घोड़े को आगे बढ़ाया परन्तु उसके भाग्य में आज मनोगत इच्छा की पूर्ति न लिखी थी। इतने में एक अश्वारोही घोड़ा दौड़ाता हुआ वहाँ आ पहुँचा।

'क्या है, स्थाणु ?' आने वाले से सेनाजित ने पूछा।

'प्रभो ! अन्नदाता ने आपको अभी बुलाया है।'

सेनाजित ने उदासीनता से ऊपर देखकर एक निःश्वास ली, 'हे अश्विनीकुमार ! आज यह है क्या ?' वह बड़बड़ाया। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार हँसकर पूछा, 'महामात्र घर पर हैं ?'

'हाँ, प्रभु ! आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं आज चार घण्टे से आपको ढूँढ़ रहा हूँ।'

'यह सब किस लिये ?'

'बहुत आवश्यक काम है।'

सेनाजित ने विचार किया कि महामात्र संनिधाता जैसे अधिकारी के बुलाने पर नहीं जाना ठीक न होगा। परन्तु वह किस लिए बुला रहा है यह वह अच्छी तरह जानता था, अतएव उसने एक दीर्घ निःश्वास लेकर सोचा, किसी का विश्वासपात्र बनना, मिष्टभाषी होना, किसी बात को समझना यह सब लक्षण अत्यन्त ही दुखद होते हैं, ऐसा उसे इस समय अनुभव हुआ।

दर्शक मगध के सार्वभौम नरेन्द्र के अत्यन्त ही विश्वासपात्र और सम्मानित मंत्री थे। महामंत्री होने के कारण महामात्र पद के अधिकार-भार को भी वहन करते थे और नरेन्द्र के सानिध्य में सदैव रहने का अधिकार प्राप्त होने के कारण संनिधाता की उपाधि से सुशोभित थे।

धननन्द की लोभाग्नि में घृताहुति सदृश और उसकी अपार अक्षय धन-राशि के यदि यथार्थ में कोई फणिधर संरक्षक थे तो वह संनिधाता दर्शक ही। राजकीय धन-कोष और तहखाने, धान्य-भण्डार और जंगली पदार्थों के संग्रह उनके अधिकार में थे। और धन-प्राप्ति की सरलता के लिए शस्त्रागार और कारागृह पर भी उनका आधिपत्य था।

वक्रनास अपनी सर्वोच्च राजनीतिज्ञता से देश को आतंकित करते थे तो दर्शक अतुल समृद्धि से शासन करता था।

रत्न, सोना-चाँदी, धन-धान्य, और समस्त प्रकार की द्रव्य-सामग्री का अपार संग्रह सम्पूर्ण सृष्टि मे से लाकर राज-कोष मे भरना ही उनका परम् कर्त्तव्य था और उस कर्त्तव्य की पूर्ति में बाधक किसी भी व्यक्ति को मनोच्छित दण्ड देने का उन्हें अनियंत्रित अधिकार था।

मगध राज्य के विगत दो सौ वर्ष के आय-व्यय का पूरा पूरा हिसाब उनकी जीभ पर था। अपने दस वर्ष के अधिकार में आय की महान् वृद्धि और व्यय-न्यूनता की चर्चा लोगों से करते-करते उनकी जीभ घिस जाती थी।

नरेन्द्र हिरण्यगुप्त उन पर सदैव प्रसन्न रहते थे क्योंकि उन्हीं के कारण वह अपार धन-संचय कर सकते थे और संनिधाता नरेन्द्र पर लट्टू थे क्योंकि धनसंचय में उन पर कोई विषम प्रतिबन्ध न लगाया गया था—उनको सब कुछ करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

दर्शक स्वयं अपार धन-राशि के स्वामी थे और लोगो को ऋण देकर उसे चौगुना बढ़ाने की कला में सिद्धहस्त थे।

ऐसे व्यक्ति के निमन्त्रण को कैसे अस्वीकृत किया जाय ? इस निमंत्रण का रहस्य सेनाजित अच्छी तरह से जानता था।

इस प्रतापी, सर्वसत्ताधिकारी सन्निधाता का प्रभाव घर में पैर रखते ही नौ-दो ग्यारह हो जाता था। संनिधाता पचास वर्ष की आयु के गोल-मटोल गृहस्थ थे और अपनी तीसरी बार की सुन्दर, पच्चीस वर्षीय पत्नी के आतंकपूर्ण प्रभाव की पूजा-अर्चना करने में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे।

दर्शक घर में घुसते ही अपना अभिमान बाहर रख, नम्र सेवोत्सुक हो जाते और नित नवीन उपहारो का ढेर प्रियतमा के चरणो में रखते। यदि उनकी देवी कहीं हँस दीं तो वह हर्षोन्मत्त हो जाते, यदि वह चुपचाप मौन साध बैठी रहती तो उसे रिझाने के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते और यदि देवी रूठ जातीं तो चरणों में साष्टांग दण्डवत कर दीनता की प्रतिमा बन जाते। सामान्यतः देवी अन्तिम दो भावों का अनेक बार अनुभव कर चुकी थीं, अतएव सन्निधाता को अपना पागलपन दिखाने का अधिक अवसर न मिलता था।

मैनाकी वैशाली के धनिक की लाडली कन्या थी, और मगध के सन्निधाता पर अनुग्रह करके ही उसने विवाह किया है, यह विचार सदैव उसके मस्तिष्क में घूमा करता है। मदमत्त और धनोन्मत्त मैनाकी को पति और पिता का धन अपव्ययकर अपनी इच्छा का पोषण करने के अतिरिक्त जीवन मे और कोई प्रयोजन न था।

दर्शक युवा पत्नी के वृद्ध पतियों में प्रचलित रोग के शिकार थे, अतएव सदैव उसके पीछे पागल की तरह फिरा करते, और मैनाकी छोटी-छोटी बातों से उन्हें परेशानकर उनके पागलपन की मात्रा और भी बढा देती थी और दर्शक दर्शकों के लिए एक विचित्र वस्तु बन जाते थे।

कितने ही मैनाकी को प्रसन्न करने की चेष्टा करते थे, तो स्वयं मैनाकी कितनों को मनाने का प्रयत्न करती थी। पहले वह सेनाजित को मनाने का प्रयत्न करती थी, अब यदि कोई मैनाकी को मना सकता था तो वह सेनाजित था। इसलिये किसी भी प्रकार से मैनाकी को प्रसन्न रखने के हेतु दर्शक को सेनाजित की वक्त-बेवक्त आवश्यकता आ ही पड़ती थी।

इस समय भी ऐसा ही कोई काम आ पड़ा होगा ऐसा मालूम होता था। वह काम क्या होगा इसे समझने में सेनाजित को कुछ भी समय न लगा। लगभग एक वर्ष हुआ, राजकुमार चन्द्रगुप्त मैनाकी का महँगा अतिथि था और संनिधाता की उज्जवल कीर्ति पर पर काले धब्बे डाल रहा था। परन्तु चार मास हुए वह आखेट खेलते समय सहसा अदृश्य हो गया था।

सेनाजित अपनी आन्तरिक पीडा को दबाकर संनिधाता के प्रासाद को चल पडा। लगभग चौरस घाट तक पहुँचते-पहुँचते उत्सुक दर्शक उसे सामने मिले। निराशा और चिन्ता से श्यामवर्ण गोल मुख-व्योम पर आशा-किरण फुट पडीं।

'भाई सेनाजित, अच्छा ही हुआ, तू आ गया। उसे कुछ हो गया है।' घबराकर धननन्द के धन-रक्षक ने कहा।

'क्या हुआ है?' हँसी रोककर सेनाजित ने पूछा।

'कुछ हुआ अवश्य है। सवेरे से कुछ बोलती ही नहीं।' दर्शक ने कहा।

'अर्र्! वैद्य को बुलाइये!'

पर अंगराग-लेपन किया हुआ था। जैसे वह पगली हो इस प्रकार अश्रुपूर्ण नेत्रों को विस्फारित कर कभी ऊपर देखने लगती तो कभी सरोवर के जल में दृष्टि गाड़ देती। थोड़ी-थोड़ी देर बाद एक ओर से दूसरी ओर देखने पर निःश्वासें छोड़ती थी।

दो दासियाँ उसे पंखा झल रही थीं।

सेनाजित और दर्शक को आते देख उसने एक बार आँखें नीची-कर और फिर ऊपर चढ़ा लीं और एक गहरा निःश्वास छोड़ा। दर्शक का दुःख सेनाजित समझ गया।

'मैंने नहीं कहा था ? सवेरे से यही है दशा सेनाजित ! इसे क्या हो गया है ?' संनिधाता ने चिन्तातुर स्वर में पूछा।

'देवी !' सेनाजित ने प्रसंगानुसार गहन गांभीर्य धारणकर पूछा, 'कैसी हो ?'

'हुँ।' मैनाको ने उत्तर दिया और समग्र संसार की पीड़ा उसकी आँखों में छा गई।

'सिर में दर्द है या पेट में दर्द होता है ?'

'उँ-उँ-हुँ।'

'मैंने नहीं कहा था ?' दयार्द्र कंठ से दर्शक ने कहा, 'क्या होगा ?'

'संनिधाता ! आपने कुछ कहा या किया होगा ऐसा दीखता है। नहीं तो देवी यों निःशब्द क्यों होतीं ?'

'मैंने न तो कुछ कहा है और न कुछ किया ही है।' कोई भयंकर अपराध किया हो इस प्रकार दीन-हीन भाव से दर्शक महामात्र देख-रहे थे।

'इन्हें सुला दो न ?' सेनाजित ने कहा।

'नहीं सो सकती !' निराशा से पति ने कहा, 'देखो न, उसकी कमर सीधी की सीधी ही रहती है। सेनाजित ! क्या होगा ?'

'महामात्र जी ! तब मैं तो जाता हूँ—मुझे काम है।' तिरछी

निगाह से मैनाकी को देखते हुए कहा, 'कुमार प्राग्ज्योतिष गये हैं। उनके पास संदेशा भेजने के लिये दूत को भेजना है।'

'हुं...' अब की निःश्वास अटक गई थी और व्योम में उड़ती दृष्टि तत्काल पृथ्वी पर आ टिकी। सेनाजित मन ही मन हँसा। इस मौनमूर्ति के हृदय को सतेज करने में वह प्रवीण था।

'ऐं! कुमार! वहाँ कहाँ चले गये?' दर्शक ने कहा।

'शिकार खेलते-खेलते वहाँ जा पहुँचे ऐसा कहते हैं।' इधर-उधर फिरती मैनाकी की आँखें फिर स्थिर हो गईं और एक दीर्घ निःश्वास ने सबके हृदय को भेद दिया। 'अरे हाँ, संनिधाता! तक्षशिला के युवराज आंभि यहाँ आये हैं।'

'हाँ, सुना है।' दर्शक ने कहा और अपने सामने देखती हुई मैनाकी को देखकर उसकी ओर घूमे, 'कैसी हो? कुछ ठीक लगता है?' अधीर पति ने पूछा।

'उँ-हुँ,' मैनाकी ने एकदम निःश्वास छोड़ा।

'एक ब्राह्मण आया है, उसके बारे में कुछ सुना?' मैनाकी की ओर देखते हुए सेनाजित ने दूसरा उपचार सोचा।

'हाँ, वह कौन है?' दर्शक ने पूछा।

ऊपर उठी हुई पलकें फिर नीचे झुक गईं।

'वह ब्राह्मण युवराज आंभि का गुरुबन्धु है।'

'ऐसा! पर उसका यह मिज़ाज!' दर्शक ने कहा।

मैनाकी फिर स्वस्थ हुई। उसकी तरफ़ सहर्ष देखकर पूछा, 'कैसी हो?' और वहाँ से खिसककर मैनाकी के पास आये! पर उसने हाथ के इशारे से उन्हें दूर रहने के लिये कहा।

'हाँ, कुछ ठीक है।' भयंकर निःश्वास के साथ वह बोली।

दर्शक के आनन्द का वारापार न रहा '—बोलीं-बोलीं-बोलीं!' जैसे मैनाकी ने अकल्पित विजय प्राप्त किया हो इस प्रकार हर्षित होते हुए संनिधाता ने कहा।

'आप देवी के प्रति पूर्णतया ध्यान नहीं रखते, क्यों?' सेनाजित ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा।

'अरे, मेरे मुँह से निकल ही गया—' दर्शक ने पश्चात्ताप दिखाया।

'क्या?'

'वह वृद्ध सुकेतु बहुत सिर चढ़ गया है।'

मैनाकी ने दीर्घ निःश्वास ली।

'अरे, उसमें क्या हुआ? अच्छा, यह बात जाने दो; हम लोग तो उस ब्राह्मण के अभिमान की बात करते थे।' सेनाजित ने हँसकर बात बदल दी।

'किसके अभिमान की बात कर रहे थे?' जैसे बहुत कष्ट हो रहा हो इस प्रकार मैनाकी ने गीली आँखों से सेनाजित की ओर देखते हुए पूछा।

'जाने भी दीजिये।' सेनाजित ने चिढ़ाते हुए कहा, 'व्यर्थ में आपको कष्ट होगा।'

'नहीं, नहीं, कहो न! ज़रा मज़ा आयेगा।' हर्षोन्मत्त पति ने कहा।

'तक्षशिला का युवराज—महादेवी का भाई आया है। उसको राक्षस मंत्री आमन्त्रित करने गये। उसके साथ में तक्षशिला का कोई उसका गुरुबन्धु आया है। मंत्री ने कहा कि नरेन्द्र की आज्ञानुसार ब्राह्मण हाथी पर नहीं बैठ सकता। इस पर ब्राह्मण का पारा चढ़ गया और पैदल आचार्य शकटाल के घर तक गया है।'

'शकटाल के यहाँ क्यों गया है?' मैनाकी ने पूछा।

'कौन जाने? कहते हैं कि उनका सम्बन्धी होता है।'

'उसका नाम क्या है?'

'विष्णुगुप्त कहते हैं।'

'प्रिये, अब कैसी तबियत है?' दर्शक ने चिन्तातुर स्वर में पूछा।

'ठीक है।' निःश्वास छोड़ते हुए मैनाकी बोली।

'क्या होता है ?' सेनाजित ने पूछा।

'उँ—हूँ' मैनाकी ने निःश्वास छोड़ा। 'कुमार की कुछ खबर है ?'

'प्राग्ज्योतिष गये हैं।'

'कैसे पता चला ?' मैनाकी की आँखें सूख गईं।

'नरेन्द्रदेव स्वयं मुझसे कहते थे।'

'कब आने वाले हैं ?'

'मुझे नहीं मालूम।'

'प्रिये ! अब ठीक है न ?' संनिधाता ने पूछा।

'आप बार-बार क्या पूछते हैं ?' सेनाजित ने कहा, 'देवी ! मैं अब आज्ञा चाहता हूँ। महामात्रजी आज्ञा है ?'

'कहाँ चले ?' संनिधाता ने पूछा।

'मुझे आचार्य शकटाल के यहाँ जाना है।'

'क्यों ?' मैनाकी ने पूछा।

'अपने लग्न की तिथि का निश्चय करने। अच्छा जाता हूँ। संनिधाता ! देवी ! प्रणाम।'

'आशीश !' दर्शक ने कहा। सेनाजित चला गया। 'अब कैसी हो ?'

'नहीं, ठीक है। आप राजगृह नही गये ?'

'अरे तुम्हारा शरीर ठीक न था, कैसे जाता ?' कुछ बदले की आशा से संनिधाता ने कहा।

'मुझे क्या होने को है ?' कह मैनाकी ने सिर पर हाथ रखा।

'फिर कुछ होने लगा क्या ?' दर्शक ने पीडा से कहा।

'नहीं, नहीं।' मैनाकी ने झूले पर से उतरते हुए कहा, 'आप जाइये।'

मैनाकी के खड़े होते ही उसका पूर्ण माधुर्य प्रस्फुटित हो उठा।

दृष्टि में सम्राज्ञी सा गर्व और मंत्र-मुग्ध करने वाली मोहिनी का उसमें सम्मिश्रण था।

दर्शक जाते-जाते रुक गया। मैनाकी की तबियत ठीक हुई देख उसके हृदय में पत्नी के पास बैठकर क्षण भर साहचर्य करने की इच्छा हुई।

'जाओ न! देखा क्या करते हो? नरेन्द्रदेव राह देखते होंगे।' तीव्र स्वर में मैनाकी ने कहा। क्षणभर तक दर्शक इस जगदम्बा का स्वरूप निरखता रहा और फिर नम्रता से कहा, 'अच्छा' जा रहा हूँ।'

'दासी!' मैनाकी ने आज्ञा दी, 'चन्दन ला तो!' वह घूमकर अन्दर जाने लगी और संनिधाता राजगृह जाने की तैयारी करने बाहर चले गये। दर्शक के बाहर जाते ही मैनाकी के मुख के भाव बदल गये। क्षणभर पहले दुःख से पीड़ित अधरों में दृढ़ता और कटुता आ गई थी, उसके नेत्रों में वज्र का-सा तेज झिलमिलाने लगा। फिर तुरन्त उसके मुख पर दुख की घनीभूत छाया फैल गई और आँखें पागलों की तरह हो गई।

'आर्यपुत्र!' उसने पुकारा।

'हाँ!' दो छलाँग मारकर संनिधाता फिर आ गये।

'ज़रा सुकेतु को बुलाना।' मैनाकी ने कहा। महामात्र ने दृढ़ता प्राप्त करने के लिए इधर-उधर देखा। क्षणभर दोनों मौन रहे।

'हाँ, अभी आदमी भेजता हूँ।'

'आपको देर होगी तो नरेन्द्रदेव क्रोधित होंगे!' स्नेह-सिक्त स्वर में मैनाकी ने कहा। दर्शक को आज्ञा-पालन का पारितोषिक मिल चुका था—'हाँ, जाता हूँ।' प्रसन्नचित संनिधाता चले गये।

मैनाकी के मुख पर विजय-हास्य था। उसने पैर की ठेस देकर एक झोटा लिया और फिर कूदकर नीचे उतर पड़ी।

'दासी!' उसने आवाज़ दी। दो दासियाँ दौड़ती हुई आईं। 'नहाने के लिये पानी तैयार करो!'

'जी।'

वह स्नान करके आई उसी समय सुकेतु भी आया।

सुकेतु गौरवशील वार्धक्य की प्रतिमा-स्वरूप था। झुर्रियोंवाला श्वेत दाढ़ी, विशाल वक्षस्थल, स्नायुक्त शरीर, चिंताशील मुख—यह सब गुण उस प्रतिमा की विशेषता थी।

'दासी!' मैनाकी ने आज्ञा दी, 'द्वार पर खड़ी रहना। खबरदार किसी को आने दिया तो! सुकेतु! बोलो, कुछ समाचार है?'

'क्या कहूँ?' सचेत हो चारों ओर दृष्टि फेरकर सुकेतु ने पूछा।

अधीर होकर मैनाकी ने पूछा, 'कुमार का कुछ पता चला?'

'नहीं।'

'सेनाजित आज मुझे झूठ-मूठ समझाने आया था।'

'क्या?'

'कि कुमार प्राग्ज्योतिष गये हैं। मुझसे कहे बिना वह जायँ! वह तो मैंने ही भूल की। मुझ मूर्खा ने उन्हें बुलाकर आधी रात को ही निकाला। उसी रात को कुछ न कुछ हो गया।'

इस बात को सुकेतु ने इतनी बार सुना था कि उसने उत्तर देने का कष्ट ही नहीं किया।

'कुछ कर तो नहीं दिया गया?'

'यह कैसे कहा जा सकता है?'

'यदि उनका एक बाल भी बाँका हुआ तो...' होंठ चबाकर मैनाकी ने कहा, 'कुछ नई बात मालूम हुई?'

'नहीं।'

'सुकेतु! तुम अब बुड्ढे हो चले। इतने दिन हो गये कुछ ख़बर नहीं लाये।'

'देवी! मैंने बहुत खोज की, परन्तु कहीं टोह न लगी। मैं तो निराश होकर बैठा था, परन्तु आज ही—'

'क्या ?'

'मुझे आशा हुई।' फिर सचेत हो चारो ओर दृष्टि दौड़ाकर सुकेतु ने कहा।

'किस प्रकार ?'

'आज तक्षशिला का युवराज आया है, आपने सुना ?'

'हाँ, पर उससे क्या ?'

'साथ मे चाणक्य भी आये हैं।'

'चाणक्य ! यह कौन हैं ?'

'विष्णुगुप्त, युवराज का मित्र है।' धीरे से सुकेतु ने कहा।

'ओह ! अच्छा, उससे हमें क्या लाभ ?' अधीर मैनाकी ने कहा, 'सेनाजित मुझसे कह गया है।'

'सेनाजित ने, वह कौन है बतलाया ?'

'युवराज का गुरुबन्धु।'

'उससे क्या परिणाम निकला ?' सुकेतु ने कहा। 'मै अभी क्षुद्रक* माल्लवों के दूत-प्रणिधिओ के यहाँ जा पहुँचा था। दूतनायक शेष के सामने कोई चाणक्य के अपमान की चर्चा कर रहा था।'

'फिर ?' मैनाकी ने पूछा।

'शेष को तो पहचानती हैं न ? उसका वश चले तो नरेन्द्रदेव की गर्दन तोड़ दे !'

'कौन नहीं तोड़ सकता ?'

सुकेतु ने धीरे-धीरे आगे कहना शुरू किया, 'बात सुनकर वृद्ध शेष बोले, 'कौन चणक ऋषि का पुत्र ! धननंद से कहना कि सावधानी से काम करे। वह मगध का ब्राह्मण नहीं है।'

---

* क्षुद्रक माल्लव—एक प्रजासत्ता का संघ था। ग्रीक लोगो ने उनका Oxydrakkaie और Malloi नाम से उल्लेख किया है।

'कौन है वह ?'

'शेष के स्वर से पता लगता है कि वह कोई महापुरुष है—क्या धारणा है ? दूसरे प्रतिनिधि उससे मिलने चल पड़े ।'

'ऐं ! क्या कहते हो ? शेष !'

'हाँ ।'

६

सुकेतु विचारमग्न खड़ा था। मैनाकी की बात ठीक थी। उसके प्रेमी कुमार चन्द्रगुप्त का पता न था; और जब तक कोई सतर्क व्यक्ति उसकी सहायता न करे तब तक उसका पता किसी भी तरह से नहीं लग सकता। मैनाकी चाहे जैसी हो, आखिर स्त्री थी। शेष अपनी तटस्थता नहीं छोड़ता था, अतएव यह आगन्तुक उपयोगी सिद्ध होगा इसका उसे पूर्ण विश्वास था।

थोड़ी देर बाद दो दासियाँ आईं। उनमें से एक हँस रही थी। सुकेतु ने देखा और चौंककर पूछा, 'देवी, आप !'

मैनाकी ने मैली मोटी धोती का अवगुंठन मुख पर से उतार दिया और गंदा मुख, बिखरे हुए बाल और पीतल के आभूषणों से सुशोभित अपने मुख को दिखाया। इस वेष में, इस अनाकर्षक रूप में धनाढ्य संनिधाता की दामिनी-सी चमकती और लक्ष्मी के समान गर्विष्ठा स्त्री को कोई पहचान नहीं सकता था।

'आप चल सकेंगी ?'

'मेरे पैर नहीं हैं क्या ?' मैनाकी ने सरोष कहा।

'संनिधाता आ जायेंगे तो ?'

'उनकी आप क्यों फिक्र करते हैं ?'

सुकेतु चुपचाप आगे-आगे चलने लगा। 'सुकेतु ! तुम आगे

जाकर गौरी को सूचना दो। हमारे साथ-साथ तुम्हारा चलना ठीक नहीं है। हम शकटाल के पीछेवाले द्वार पर आयेंगी।'

'जैसी देवी की इच्छा।' कह सुकेतु झपटकर आगे बढ़ गया और पीछे मैनाकी और उसकी दासी शकटाल के घर की तरफ़ चलीं।

राजमार्ग छोड़कर, गलियों में होकर वह उत्तर की ओर अग्रसर हुई और उस ओर पड़ता नगरराज देवता का मन्दिर बड़ी कठिनाई से बचाकर, लुहार और मणिकारों के निवास पारकर वह ब्राह्मण निवास पहुँचीं।

यहाँ चक्रवर्ती धननंद के पिता के समय का एक महान् सम्मान-प्राप्त प्रतापी शकटाल एक छोटे से घर में क्षुद्र जीवन बिता रहे थे। एक समय था जब कि उनके शासन से धरा प्रकंपित होती थी, स्वयं नरेन्द्रदेव घबराते थे। परन्तु कालचक्र के अनुसार महान् परिवर्तन हुआ था। द्वेषी नरेन्द्र और बैरी वक्रनास ने उन्हे पदभ्रष्ट किया, उनके घर-बार ज़ब्त कर लिये, उनके प्रधान शिष्यों और अनुयायियों को देश से निर्वासित किया, उनके धन और वैभव के साथ-साथ उनकी आँखें भी निकाल ली। अपनी महान् महत्ता की विडम्बना स्वयं न कर सके, उनमें इतनी शक्ति बनी रहे, इसलिए उनके शत्रुओं ने एक छोटा-सा घर दिया और खाने को टुकडा बाँध दिया था।

उनके यहाँ जाने की उनके सगे-सम्बन्धियों तक को हिम्मत न थी, और दूसरा तो जाने की इच्छा ही क्यों करने लगा? उनके सहचरों में थी केवल उनकी एकमात्र कन्या गौरी, और उनके अनुयायियों में थे केवल चार-पाँच मूर्ख पर अडिग भक्ति वाले शिष्य। ऐसे प्रतापी व्यक्ति की ऐसी दशा देखकर प्रजा उन पर तरस खाती थी। नरेन्द्र से भयभीत पाटलिपुत्र की प्रजा उनके पास तक नहीं फटकती थी। जब अन्ध आचार्य चबूतरे पर बैठकर माला जपते तब शुभ कार्य करनेवाले श्रोत्रियगण शिवकवच का पाठ करते हुए चले जाते थे और सुकुमार बालायें मार्ग देती थीं।

अरण्य में जिस प्रकार वातवेग से शाख-पात विहीन कोई एकाकी महावृक्ष, पत्र-रहित, निस्तेज, निराशा से शून्य की ओर तकता हो उसी प्रकार, वृद्ध पद-भ्रष्ट मंत्री देख रहे थे। ज्योतिहीन नेत्रों में अश्रु न आ पाते थे, फिर भी उनमें दीनता सिकुड़कर बैठी थी। उनके शुष्क मुख पर खिंची वक्र रेखाओं में विगत कथाओं का कारुण्य था। निःशब्द निराधार शकटाल भयंकर एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनको देखकर सब भय से कॉप उठते थे।

रात-दिन के लम्बे प्रहर में सेनाजित और कुछ शिष्यों के अतिरिक्त कोई उस घर में पैर न रखता था। नरेन्द्र ने जब सेनाजित को गौरी के साथ विवाह करने की आज्ञा दी तब सभी लोग अत्यन्त चकित हुए और शकटाल के यहाँ आने-जाने भी लगे। दुःख, अपकीर्ति और नेत्रहीनता से जड़प्रायः शकटाल को समाज ने फिर अपनाया। सेनाजित के समान धननंद के लाड़ले सेनाध्यक्ष के श्वसुरगृह की कौन अवहेलना कर सकता था?

शकटाल के घर के आस-पास आज सबेरे से एक अजीब तूफान उठ खड़ा हुआ था! कितने ही अपने घरों के दरवाजे बन्दकर, घर में घुस बैठे थे, तो कितने ही बदहवास होकर दौड़ते हुए आकर एक जगह इकट्ठे हो रहे थे। शकटाल—निर्जीव शकटाल के यहाँ तक्षशिला का कोई धृष्ट आचार्य नरेन्द्र का अपमान कर आ टिका था। सृष्टि के आदिकाल से किसी ने ऐसी मूर्खता न की थी और न उनके मन्त्री वक्रनास के क्रोधानल से कोई बचा था। तो फिर उसका उपहास करने की किसने धृष्टता की? और उसने कैसे शब्दों का प्रयोग किया था, 'श्रोत्रिय पैदल चलकर जायगा तो आचार्य शकटाल के यहाँ ही!' मगध में किस ब्राह्मण का गर्व अखण्ड था जो इस अविचारी ने ऐसे गर्वीले बचन कहे? जहाँ शकटाल जैसे ब्राह्मण की पुत्री का पाणिग्रहण क्षत्रिय सेनाजित से निश्चित हुआ था,

जहाँ ब्राह्मण वक्रनास ने शूद्रा से ब्याह किया; जहाँ राक्षस ने ब्राह्मण होकर वक्रनास की कन्या ब्याही; जहाँ शुद्ध ब्राह्मण के खड़े होने तक का स्थान न था और उनको नीचा दिखाने में ही महानता समझी जाती थी, वहाँ ऐसा अभिमान दिखाने में उसने क्या बुद्धिमानी की ? ऐसे प्रश्नों की भरमार गली-कूचों में हो रही थी। शकटाल के घर के सामने लोगों की भीड़ लग गई थी। धीरे धीरे यह बात सारे नगर में फैल गई और केवल ब्राह्मणवर्ग की नहीं परन्तु अठारहों वर्ण के लोग इकट्ठे होने लगे। ऐसी मूर्खता करनेवाला कैसा होगा ? क्या नरेन्द्र उसको मार डालेगा ? उसका क्या होगा ? वह कौन है ? उसका आचार्य कौन है ? ऐसे अनेक प्रश्न शकटाल के घर के सामने इकट्ठी भीड़ में एक दूसरे के मुँह से निकलने लगे।

इस सार्वजनिक अधीरता से पूर्णतया अस्पर्श्य शकटाल दृष्टिविहीन आँखें खोले मौन माला जप रहे थे। लोगों का कंठ-स्वर उन्हें सुनाई पड़ा, पर वह कुछ समझ न सके। यह सब क्यों हो रहा है, यह भी किसी से पूछने की उन्हें जिज्ञासा न थी। गोरी पानी भरने न गई होती तो शायद उससे इसका कारण पूछते। अधीर नगरनिवासी इस निश्चलता को देखकर और भी अधीर हो रहे थे, फिर भी भूतकाल की इस परछाईं को भयंकर समझकर उन्हें सम्बोधित करने का किसी को साहस न हुआ।

सहसा शान्ति की एक महातरंग इस भीड़ पर से होकर निकली। छज्जों से, अटारियों से, चबूतरे से, मार्ग में से सहस्रों आँखें एकाग्रता से एक ओर देख रही थीं। सम्पूर्ण जन-समाज साँस रोककर खड़ा था—देख रहा था और मार्ग दे रहा था।

सारा वातावरण कम्पायमान था। क्या सचमुच पृथ्वीपति धननन्द को भयभीत करने के लिए यह ब्राह्मण आया था ?

तीन व्यक्ति—पहले दो और उनके पीछे एक इस प्रकार से—भीड़

द्वारा दिये गये मार्ग पर अग्रसर होने लगे। पहले दो में से एक ऊँचा था और एक साधारण कद का था।

तीनो के पैर में खड़ाऊँ थी, ललाट पर भस्म और सिर पर जटा। इसके अतिरिक्त तीनो में कोई समानता न थी।

आगे वाले दो व्यक्तियों में एक की आयु लगभग पचास के थी; दूसरा तीस वर्ष के लगभग था। बड़े का शरीर कद्दावर, उसकी दाढ़ी काली और लम्बी थी। उसके हाथ मे कमंडल था। उसके उन्नत श्वेत ललाट पर गहन चिंतन की दीर्घ रेखाये अंक्ति थीं। उसकी आँखें बड़ी और तेजस्वी थीं और बार-बार अपने साथी की ओर देखने लगती थीं।

दूसरा साधारण कद का था और अपने साथी के समक्ष निर्बल लगता था। उसका तेजस्वी मुख और भव्य ललाट ध्यान आकर्षित कर रहा था। उसका वर्ण जरा श्याम था। छोटी काली दाढ़ी उसके मुख की शोभा बढ़ा रही थी, उसकी आँखो मे, उसके मुख पर और गति मे शान्तता थी—भयंकर, गहन और निश्चल शान्तता। वह निर्दोष लगता था परन्तु फिर भी वह कौन है यह जानने की जिज्ञासा होती थी। अर्धनिमीलित नेत्रों से वह चारों ओर देख रहा था।

तीसरा आगन्तुक प्रचंडकाय था। स्नायुयुक्त शक्तिशाली, लम्बी भुजायें उसकी शक्ति का कुछ आभास दिलाती थीं, उसकी मूँछें निकल रही थीं। वह अपनी हँसती हुई आँखो से दोनो ओर देखकर पलक बन्द कर लेता था। यह इस समय बहुत ही आनन्दित हो ऐसा दिखाई दे रहा था। उसे देखनेवाले भी प्रसन्न हो रहे थे।

तीनो व्यक्ति शकटाल के घर के सम्मुख आये और आगेवाले दोनो व्यक्ति अन्ध शकटाल के चरणो में गिर पड़े।

'गुरु! प्रणाम स्वीकृत हो!' दोनों में से छोटे ने कहा।

शकटाल के ज्योतिहीन नेत्र शून्यता में ऊपर उठ गये और जैसे कुएँ में से आवाज़ आ रही हो ऐसे कठोर स्वर में पूछा:

'कौन हो ?'

'हम—विष्णु और प्रमंडक।' एकाग्रता से सुन रही भीड़ काँप उठी।

'कौन से विष्णु और प्रमंडक ?'

'भूल गये ? आपके घर मे हम वर्षों तक रहे थे।' नम्रता से विष्णु ने कहा। अंधनेत्र फिर उठे।

'तुम कहाँ से ?' तटस्थ और निरुत्साह स्वर आया। 'पुत्र ! यहाँ क्यो आये हो ? मुझसे मिलने आने में भलाई नहीं।'

'गुरुजी ! आपसे न मिलें तो पाटलिपुत्र हमारा आना सार्थक कैसे होता ? अन्दर आइये।' शांति से छोटे शिष्य ने कहा।

शकटाल क्षणभर के लिये विचारमग्न हो गये और फिर हाथ आगे बढ़ा दिया। छोटे शिष्य ने उसे पकड़ लिया और वृद्ध को भीतर ले गया। पीछे से दूसरे दोनो व्यक्ति अन्दर गये। कपाट बन्द हो गये.........

वहाँ इकट्ठी भीड में निराशा छा गई। आशा से कहीं अधिक शांति से सब समाप्त हो गया—न कोई गडबड़ हुई, न कोई तूफ़ान उठा, और न कुछ कोलाहल ही हुआ। आंभि का गुरुबन्धु कौन है ?—फिर देखने से क्या लाभ हुआ ?

कितने ही इन तीनो मे से मुख्य कौन था इस विषय पर वाद-विवाद करने लगे, कितने ही मुँह बिचकाकर चले गये, कितने ही अभी कुछ और होगा, इस आशा में शकटाल के बन्द द्वार पर खड़े देखते रहे। बहुत देर तक कुछ हुआ नहीं, अतएव धीरे-धीरे भीड़ बिखरने लगी।

१०

इतने मे एक गली में से लगभग पन्द्रह जटाधारी साधुओं का झुण्ड निकला। यह कोपीनधारी बाबा लोग हाथों में चिमटे लिये

घण्टनाद करते हुए आगे बढ़ रहे थे और बार-बार 'जय जयंत, जय जयंत' का जय-घोष कर रहे थे।

'बाप रे! यह तो सिद्ध क्षपणक के शिष्य आये!' शकटाल के द्वार पर खड़े एक युवक ने कहा।

'मैंने नहीं कहा था कि कुछ हुए बिना नहीं रहेगा! मैं तो सिद्ध क्षपणक के निवासस्थान तक हो आया हूँ, तो भी क्या मुझे न मालूम होगा?' एक अधेड़ व्यक्ति ने कहा।

'तुम हो आये थे! कब शौनक?'

'अरे यह लो! सिद्ध क्षपणक आ रहे हैं!' शौनक ने कहा।

चार साधु एक काष्ठ-पालकी में एक जटाधारी बाबा को उठा। कर गली में से बाहर निकले। पालकी पर बैठा जटिल अधिक अवस्था का था और नेत्र बन्दकर लकड़ी की तरह सीधा बैठा था।

'यही सिद्ध क्षपणक हैं?' उस साधु की ओर संकेत करते हुए भयाकुल नयनों से उस युवक ने पूछा।

'हाँ, यही!'

बिखरी हुई भीड़ फिर इकट्ठी हो गई और शकटाल के यहाँ लौटने लगी। दर्शकों की भरती होने लगी!

'यह जटिल पूरा सिद्ध है, शौनक!'

'ज़रा भी कमी नहीं, चरक!' शौनक ने दृढ़ता से कहा। 'यह हाथ देखकर भविष्य बतलाते हैं! इन्होंने ही कहा था कि कुमार चन्द्रगुप्त लुप्त हो जायँगे!'

'ऐं?'

'हाँ, और इन्होंने ही मुझसे आठ दिन हुए कहा था कि एक ब्राह्मण नन्द का अपमान करेगा!'

'सचमुच?' पास में खड़े एक व्यक्ति ने पूछा।

'कहीं झूठी बात हो सकती है? मैं तो रोज़ इनके यहाँ जाता हूँ।' शौनक ने गर्व से कहा।

'तब तो वही तक्षशिला का ब्राह्मण होगा।' चरक ने धीरे से कहा।

'देख तो सही।' शौनक ने आडम्बर से कहा, 'कैसा तपस्वी है! जानते हो, महीने में एक जौ खाकर रहता है।'

'यह तो सब ढोंग है, ऐसे कहीं चल सकता है?'

'उसके बिना कहीं दिव्य-सिद्धि मिल सकती है?' शौनक ने उत्तर दिया, 'कैसी भव्य मूर्ति है! वह भी शकटाल के यहाँ आए हैं।'

सब मौन होकर देख रहे थे। शिष्यों ने सिद्ध क्षपणक की पालकी को पृथ्वी पर रख दिया और सिद्ध ने नेत्रपट खोल दिये। एक बाबा ने जाकर द्वार खटखटाया और विष्णुगुप्त के पीछे आने वाले हँसमुख ब्राह्मण ने तुरन्त ही खोलकर झाँका। शौनक और उसके मित्र, वह क्या कहता है यह सुनने के लिए आतुर हुए।

'कौन है?' ब्राह्मण ने पूछा।

'सिद्ध क्षपणक।' बाबा ने कहा।

'क्यों आये हैं?'

'विष्णुगुप्त के दर्शनार्थ।'

उस ब्राह्मण ने द्वार खोल दिये। सिद्ध क्षपणक, प्रचंड भयप्रद, सिन्दूर और भस्म से भयंकर जटिल पालकी से उतरा और गंभीर स्वर में 'जय-जय जयंत' कहा।

'सिद्धाचार्य! नमस्कार!' शौनक ने आगे बढ़कर उनके चरण छुए।

क्षणभर सिद्ध उसको देखते रहे, ज़रा हँसे और फिर बोले, 'वत्स! सिद्ध क्षपणक का वचन है। इस पक्ष के उतरते-उतरते चन्द्र राहु के मुख में से निकलेगा।' उसकी गम्भीर आवाज़ से सब काँप उठे।

सिद्ध क्षपणक अन्दर गया और द्वार बन्द हो गये।

शौनक गर्व से अपने आस-पास खड़े ब्राह्मण मित्रों की ओर घूमा, 'मैंने नहीं कहा था कि सिद्धाचार्य दिव्य पुरुष हैं?'

'पर उन्होंने क्या कहा यह मेरी समझ में न आ सका ?' एक व्यक्ति ने पूछा।

'समझ में आने के लिये अधिकार की आवश्यकता है।' शौनक ने कहा।

'तुम क्या समझे ?' चरक ने पूछा।

'मुझे अर्थ स्पष्ट है।'

'क्या ?' एक आदमी ने पूछा, 'अभी कौन-सा ग्रहण पडने वाला है जो चन्द्रमा छूटेगा ?'

'धननन्द के राज्य मे सदैव ग्रहण ही है।' शौनक ने गम्भीर होकर धीरे से कहा।

'चन्द्र कौन है ?' एक ने पूछा।

'यह विष्णुगुप्त ?' दूसरे ने कहा।

'कुमार चन्द्रगुप्त !' तीसरे ने धीरे से कहा। शौनक ने नाक पर ऊँगली रखकर चुप रहने का इशारा किया।

'क्या कहा ?' दो-चार व्यक्तियों ने डरते-डरते पूछा।

'शकटाल।' शौनक ने कहा।

'वह चन्द्र है !' तिरस्कार से एक ने कहा।

'हमारे तारामडल जैसे ब्राह्मण-लोक में वह चन्द्र के समान है,' शौनक ने कहा।

'तब सेनाजित के हाथ से गौरी निकल जायगी क्या ?' चरक ने पूछा।

'शी-शी-शी !' सब एकदम चुप हो गये और गली में दौड़ते हुए आते अश्वारोही को देखने लगे। बाबाओं ने अपने चिमटे खड़-खड़ाये 'जय-जय जयंत' का गम्भीर तुमुल नाद किया। एक राज-हस्ती धीरे-धीरे आता दिखाई दिया।

लोग चबूतरे पर चढ़ गये। कितने ही तो आधे खुले दरवाजे में समा गये। धननंद का कोप हाथी के रूप मे आ रहा हो ऐसा आतंक भीड़ पर छा गया।

राक्षस मन्त्री, मन्त्री के अधिकार पद से हाथी पर आरूढ़ था। पीछे दो दासियाँ चमर झल रही थीं और हाथी झूमता-झूमता सफेद और भूरे रंग से रँगी सूँड को निश्चिन्ता से इधर-उधर उछाल रहा था। लोग नीचे झुक-झुककर राक्षस को प्रणाम कर रहे थे। राक्षस हाथ जोड़कर उसका उत्तर देता था।

'विष्णुगुप्त को पकडने आया है।' चरक ने कहा।

'ऐसा नहीं हो सकता।' शौनक ने कहा, 'सिद्धाचार्य ने कहा था कि...'

'क्या?'

'कि जो ब्राह्मण नद का अपमान करेगा उसे सब देवता की तरह पूजेंगे।'

'शी...'एक ने कहा और सब प्रकृतिस्थ होकर एकटक देखने लगे।

हाथी शकटाल के दरवाज़े तक आया, महावत ने उसे बैठाया। उसने सीढी छोडी और दो अनुचरो ने उसे अम्बारी से टेक दी। चार घुड़सवार घोड़े पर से उतरकर सामने खड़े हो गये।

'जा, कह दे कि मैं आया हूँ।' राक्षस ने उस व्यक्ति से कहा।

सैनिक ने शकटाल के द्वार का कडा ठोंका और उसी ब्राह्मण ने फिर किवाड खोले।

'तक्षशिला के ब्राह्मण आये हैं न!' उस सैनिक ने पूछा। ब्राह्मण के मुख पर हँसी छा गई, 'हाँ मै अभी आया हूँ।'

'आप युवराज आंभि के गुरुबन्धु हैं?'

'हाँ, मैं वही हूँ।' खिलखिलाकर उस ब्राह्मण ने कहा।

'विष्णुगुप्त कहाँ हैं ?' अधीरता से हाथी पर बैठे ही बैठे राक्षस ने पूछा।

'अन्दर हैं।'

'उनसे कहो कि महामन्त्री राक्षस आये हैं।' सैनिक ने कहा।

'खड़े रहो, कह आऊँ।' कह ब्राह्मण ने द्वार बन्द कर दिये।

सैनिक ने मूक दृष्टि से राक्षस की ओर देखा। मन्त्री ने रोष से मूछों पर ताव दिया। चारों तरफ़ खड़ी भीड़ मे ज़रा आनन्द छा गया। बाबा लोग 'जय-जय जयंत' बोल रहे थे।

राक्षस हाथी पर से नीचे उतरा।

'अन्दर कौन है ?' चारों ओर देखकर उसने पूछा।

'अन्दर सिद्धाचार्य क्षपणक हैं।' शौनक ने आगे बढकर सूचना दी।

'क्षपणक !' क्षण भर विचारमग्न होकर राक्षस ने कहा।

'जय-जय जयंत' पास में खड़े हुए बाबा ने उत्तर दिया। राक्षस ने क्षणभर उस साधु की ओर द्वेषपूर्ण दृष्टि से देखा और द्वार की तरफ़ फिरा।

'द्वार ठोंक !' उसने सैनिक को आज्ञा दी। सैनिक ने कड़ा ठोंका और उसी ब्राह्मण का हँसमुख चेहरा बाहर आया।

'राक्षस मन्त्री कौन-से हैं ?'

'क्यों ?' तीव्र स्वर में राक्षस ने पूछा।

'अन्दर आइये, आपको बुलाते हैं।'

'कौन ?'

'कौन है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जान लेंगे।' कह वह ब्राह्मण हँसा।

राक्षस के ललाट पर पड़ी त्योरियाँ सभी ने देखीं और वह द्वार के पीछे अदृश्य हुआ। सब लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगे।

राक्षस मंत्री को घुसने न दे, उसको खिजाये ऐसा ब्राह्मण कौन है?
दर्शकों का बड़ा भाग इसी बस्ती का मुख्यतः ब्राह्मणों का था, अतएव उनको चिन्ता के साथ गर्व भी हुआ। धननन्द का राजहस्ती जिसके द्वार पर खड़े-खड़े प्रतीक्षा करे, राक्षस मंत्री भी जिसकी आज्ञा बिना अन्दर न जा सके ऐसा एक ब्राह्मण अवश्य था।

बहुत देर तक जिज्ञासा-वश बहुत से लोग खड़े रहे। फिर कुछ क्षण बाद गुस्से में भरे राक्षस मन्त्री बाहर आये और हाथी पर बैठकर चले गये। यह क्या हो रहा है इसे कोई न समझ सका। थककर बहुत से लोग अपने घर चले गये।

शौनक, चरक और उनके मित्रों में प्रतीक्षा करने की अगाध क्षमता थी। वह सामने के घर के बरामदे में जा बैठे। थोड़ी देर बाद एक व्यापारी आया और शकटाल के घर में गया। थोड़ी देर बाद एक परिव्राजिका आई और वह भी अन्दर चली गई।

सहसा घोड़ों की टाप सुनाई दी और शौनक इत्यादि एकाग्र-चित्त से देखने लगे।

दस श्वेत अश्वो पर बैठकर दस वृद्ध आये। उनकी श्वेत दाढ़ी और बाल, उनके तेजस्वी और गौर अंग और उनके विशाल शरीर ध्यान आकर्षित करते थे। उनके आगे चलनेवाला पुरुष भव्याकृति था।

'यह कौन? बाप रे! कैसी दैत्याकृति है?' चरक ने पूछा।

'चरक! तू पहचानता नहीं?' शौनक ने अपने ज्ञान-गर्व से कहा, 'यह तो क्षुद्रक माल्लव संघ की महाप्रजा के प्रतिनिधि हैं।'

'वे कौन हैं?' एक ने पूछा।

'इतना भी नहीं जानते?' तिरस्कार से शौनक ने कहा, 'उत्तर में वितस्ता नदी के तट पर स्थित क्षुद्रक माल्लव नाम की प्रजा है। उनके यह प्रतिनिधि हैं।'

'वह वृद्धा कौन है?' चरक ने पूछा।

'शेत्र। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाना जानता है।'

'कैसा मौजी है!'

शेत्र और उसके साथियों ने शकटाल के घर के सामने घोड़े रोक दिये और छोटे बालक की चपलता से ये वृद्ध घोड़े पर से उतरे। शौनकादि ब्राह्मणों का मान बढ़ा। इस बस्ती में ऐसा प्रताप उन्होंने कभी न देखा था।

उस ब्राह्मण ने द्वार खोल दिये और वह दसों प्रतिनिधि अन्दर घुसे।

फिर कुछ दर्शक इकट्ठे हो गये। आज इस छोटी-सी गली के भाग्य ने पलटा खाया था।

घर में थोड़ी देर पहले जो स्त्री घुसी थी वह बाहर आई और चारों ओर शंकापूर्ण दृष्टि से देखकर चली गई। शौनक और उसके मित्र उसका मज़ाक उड़ा रहे थे। कुछ क्षण पश्चात् सिद्धाचार्य क्षपणक बाहर आये। उनको देख उनके शिष्य खड़े होकर घण्टे बजाने और 'जय जय जयंत' का जयघोष करने लगे। शौनक ने चबूतरे से नीचे उतरकर उनकी पद-रज ली। महीने में केवल एक जौ खाकर रहनेवाले इस प्रचंड देह-धारी सिद्धाचार्य की वंदनाकर शौनक गद्‌गद् हो गया। सिद्धाचार्य ने अपना विशाल पञ्जा उसके सिर पर रखा।

'पुत्र,' सिद्ध क्षपणक ने कहा, 'आज कुसुमपुर की भूमि पावन हो गई।'

'किस प्रकार?' शौनक ने पूछा।

सिद्धाचार्य ने धीरे से उसके कान में कहा, 'शौनक! मगध के पापग्रहों का यदि कोई शमन कर सकेगा तो केवल यह आचार्य ही।'

'कौन?' चकित हो शौनक ने पूछा।

सिद्धाचार्य ने केवल शकटाल के घर की ओर संकेत किया। शौनक को पूर्ण विश्वास था कि क्षपणक की वाणी कभी असत्य नहीं होती। क्षणभर के लिये वह विचारमग्न हो गया। इतने में शिष्यों ने पालकी सामने रखी और क्षपणक उस पर जा विराजे।

घण्टानाद और जयघोष से गगन गूँजने लगा और शिष्यगण उनको लेकर आगे बढ़ गये। शौनक प्रसन्न-चित अपने मित्रों के पास गया और जिस बात को सिद्धाचार्य ने गुप्त रखने के लिए कहा था उसे ही सबसे कहने लगा। बहुत देर तक शौनक और उसके मित्रो में इस पर वादविवाद हुआ और अन्त में पालथी मारकर सब मौन हो देखने लगे। दूत-प्रणिधियो के अश्व भी अधीरता प्रकट कर रहे थे।

११

आज इस बस्ती में शान्ति न थी। तीन घुड़सवार घोड़ा दौड़ाते हुए आ पहुँचे। सर्वज्ञ शौनक ने अपनी सर्वज्ञता दिखाई। 'यह सेनाजित है। नंद के अंतःपुर का अध्यक्ष। हमारी गौरी से विवाह करनेवाला है।'

'शान्तम् पापम्!' उसका एक मित्र बोला। सब सेनाजित की ओर देख रहे थे। शकटाल के यहाँ वह अनेक बार आया था और क्षत्रिय होकर ब्राह्मण-कन्या गौरी से विवाह करने का इच्छुक था। ऐसा कौन-सा ब्राह्मण है जो उसे धिक्कारता न होगा? यह कौन नहीं जानता था कि यह कौआ घृत-पात्र उठा ले जाने की कोशिश में है। द्वेषपूर्ण दृष्टि से यह निर्जीव ब्राह्मण-मण्डली सेनाजित को देखती रही।

'जानते हो?' शौनक ने फिर सर्वज्ञता दिखलाई, 'सारा अंतःपुर इसके नाम से काँपता है।'

'शौनक,' चरक ने पूछा, 'नंद के अंतःपुर में छः सौ रानियाँ हैं, क्या यह बात ठीक है?'

'सेनाजित से पूछ लो न!' गर्व से शौनक ने उत्तर दिया।

सेनाजित के मुख पर ग्लानि छाई हुई थी। उसके तेजस्वी मुख पर अस्वस्थता के चिह्न अंकित थे। सदैव वह शकटाल के घर हर्ष और उत्साह से आता था।

आज का दिन उसके लिए अच्छा न था और उसका उदार हृदय भी इसका दोष किसी दूसरे पर लादने को प्रस्तुत था। उसे ऐसा लग रहा था कि यह नवीन आगन्तुक ब्राह्मण ही इस दुःख और विपद का कारण है। यह विचार के आते ही वह आत्म-तिरस्कार से हँस पड़ा। उसके क्षोभ का उससे क्या सम्बन्ध ? परन्तु जिस प्रकार सामान्य मनुष्य अपनी मूर्खता से हुए अपने विनाश का सम्पूर्ण कारण रास्ता काटकर निकल गई बिल्ली पर डाल देता है उसी प्रकार वह अपने हृदय की व्यथा का कारण इस अपरिचित ब्राह्मण को समझ रहा था।

उसके हृदय में एक दूसरा प्रश्न भी उठा। राजकीय कार्य में फँसी रहनेवाली उसकी बुद्धि को कुछ गहन विचार करने का अवकाश मिला था। सब के साथ-साथ वह भी युवराज आंभि के आगमन को कुछ भी महत्त्व नहीं देता, परन्तु इस प्रकार की लापरवाही में कहीं मूर्खता तो नहीं समाई हुई है ? उसका स्वामी हिरण्यगुप्त नंद लोकप्रिय तो था नहीं। वक्रनास के प्रति उसी की तरह प्रजा को त्रासित करनेवाले राज-कर्मचारियों के अतिरिक्त कोई भी सहानुभूति नहीं रखता था। इन दिनों कुमार चन्द्रगुप्त भी अदृश्य हो गये थे। इतना तो निश्चित था कि मगध के प्रभावशाली और धनाढ्य व्यक्ति कुमार को अत्यन्त ही चाहते थे। उसका शौर्य, उसका उदार स्वभाव, किसी के कुछ माँगने पर उसे तत्काल देने की तत्परता, उसका सौजन्य—इन्हीं सब गुणों के कारण प्रजा उस पर मोहित थी और ऐसे समय में उसके एकाएक अदृश्य हो जाने से नंद और वक्रनास दोनों की ओर से प्रजा का चित्त खिन्न हो गया था। क्षुद्रक माल्लवों के प्रतिनिधि महीनें भर से इस नगर में डेरा डालकर पड़े थे। उनका सौजन्य, उनका स्वातंत्र्य-प्रिय स्वभाव और उनका गौरव देख लोग उन पर मुग्ध हो गये थे और इस प्रत्यक्ष प्रमाण से उन्हें निश्चय हो गया था कि हमारे यहाँ के राजपुरुषों की रीति-नीति अत्यन्त ही अधम है। स्वयं राजपुरुष इन

दूत-प्रणिधियों का स्वतन्त्र और पौरुषपूर्ण गौरव देख अपनी पराधीनता और क्षुद्रता का आत्मज्ञान प्राप्त कर रहे थे। ऐसे अव्यवस्थित वातावरण में असंतुष्ट महादेवी के भाई आंभि का आगमन परिस्थिति को और भी विषम बना रहा था। ऐसे समय में इस अपरिचित ब्राह्मण का धननंद की राजनीति की उपेक्षा करना, और लोकलज्जावश धननंद को उसे आमन्त्रित करने के लिए मन्त्री को भेजना—इन सब विषम परिस्थितियों के कारण सेनाजित चिन्तातुर हो रहा था।

वह शकटाल के घर के सामने आया और यहाँ घोड़ों को खड़ा देखकर चौंका। उसने अपना घोड़ा रोका और नीचे झुककर नमस्कार करते हुए शौनक को देखा। 'अरे! यह किसके घोड़े हैं?'

'अन्नदाता!' पराधीन वातावरण के प्रभाव से नीचे झुककर शौनक ने कहा, 'क्षुद्रक माल्लवों के दूत-प्रणिधि आये हैं?'

सेनाजित चौंका। जैसे उसकी कल्पना-सृष्टि से दूत-प्रणिधि निकल रहे हों ऐसा उसे क्षण भर के लिये आभास हुआ। एक भी शब्द बोले बिना वह घोड़े पर से नीचे कूदा और शकटाल का द्वार ठोंकने लगा। उसी हँसमुख ब्राह्मण ने द्वार खोला। उसकी असामयिक हँसी और पुतलियों की चपलता ने अधीर सेनाजित को क्रोधाविष्ट कर दिया। उसकी अपनी गौरी का घर भी आज उसका न था।

'तुम कौन हो भाई?' उस ब्राह्मण ने पूछा। अभिमान के कारण कुछ बोले बिना सेनाजित ने दरवाज़ा पूरा खोलने की चेष्टा की।

वह ब्राह्मण खिलखिलाकर हँस पड़ा। सेनाजित के प्रयत्न करने पर भी आधा खुला दरवाज़ा एक इंच भी न खिसका।

'किससे काम है?' उस ब्राह्मण ने पूछा।

'आचार्य शकटाल से।'

'ज़रा खड़े रहो, पूछ आऊँ' कहकर द्वार पर से सेनाजित का हाथ हटाते हुए उसे बन्द कर दिया।

सेनाजित का मुख क्रोध से लाल हो गया। वह राजा का प्रिय, अंतःपुर में प्रिय और राजपुरुषों को प्रिय था और उसे इस प्रकार का अपमान सहना पड़ा! गौरी को वह हृदय से चाहता था फिर भी अपने अधिकार का गर्व उसे कम न था; अतएव शकटाल के यहाँ आने-जाने में उसे अपनी कृपादृष्टि का ध्यान रहता था, उसने होंठ चबाकर दरवाज़े पर लात मारी। दरवाज़े के साथ-साथ वह छोटा-सा घर गूँज उठा। शौनक और उसके मित्रों को अब कुछ मज़ा आने लगा।

जैसे उसकी लात के उत्तर में द्वार खुल गया और वह बलपूर्वक अन्दर घुसने की इच्छा से आगे बढ़ा वैसे ही शेष के प्रचंड शरीर से लगभग टकरा गया। एक ममत्वपूर्ण वात्सल्य-सिक्त स्मित से वृद्ध शेष ने अपना हाथ सेनाजित के कंधे पर रखा।

'अरे ज़रा धीरे, सेनाजित!'

सेनाजित ने शेष को पहचाना। वह शरमा गया। इस स्वस्थ और स्नेहसिक्त वृद्ध दूतप्रणिधि के सामने उसने ऐसी उच्छृङ्खलता दिखाकर कैसा उपहासास्पद कार्य किया है उसका उसे तीव्र अनुभव हुआ। उसका क्रोध पानी-पानी हो गया। वह निर्जीवता का अनुभव कर रहा था। किसी तरह हँसकर बोला, 'मुझे क्या मालूम था कि आप यहाँ हैं?'

'ऐसा' शेष ने ज़रा हँसकर कहा, 'हम आचार्य विष्णुगुप्त के दर्शन करने आये थे।'

सेनाजित के हृदय का भार बढ़ने लगा। इस विष्णुगुप्त को मिलने के लिये क्षुद्रक माल्लवों के दूतप्रणिधि स्वयं आये हैं! उसकी शंका और भय को बल मिला, 'आप उनको पहचानते हैं?'

'क्यों नहीं?' कह शेष अपने घोड़े पर आरूढ़ हुए और उसके साथ के अन्य दूतप्रणिधि भी अपने-अपने घोड़े पर सवार हुए। कुछ

भी सोचने में असमर्थ सेनाजित द्वार की तरफ मुड़ा। वह हँसमुख ब्राह्मण उपहास भरी दृष्टि और कृत्रिम नम्रता से घर में आने की सूचना दे रहा था। निःशब्द सेनाजित अन्दर गया और द्वार फिर बन्द हो गया।

शौनक के मित्र उसकी तरफ क्रोध से घूमे, 'क्योंजी! तुमने राजपुरुषो की बहुत खुशामद करनी शुरू की है?'

'खुशामद?' शौनक ने कहा, 'मैं किसी की खुशामद नहीं करता।'

'तब इसे,' एक ने कहा, 'अन्नदाता कह इतना झुकने की क्या आवश्यकता थी?'

यह वादविवाद थोड़ी देर तक चला और शौनक ने अपना महत्व बहुत क्षीण होते देखा। इतने में उसने दूर से आते हुए एक ब्राह्मण को देखकर बात बदलते हुए कहा, 'अरे, यह अग्निहोत्री कहाँ से आ रहे हैं?'

सब उस ओर देखने लगे। अश्विनीकुमार के मन्दिर का पुजारी, जो सवेरे सेनाजित को मिला था, धीरे-धीरे आता हुआ दिखाई दिया। वह भी और लोगों की तरह शकटाल के द्वार की ओर चला।

'अग्निहोत्रीजी, कहाँ चले?' शौनक ने पूछा।

'यहाँ जो बैठे हो और इतना भी नहीं जानते?' अग्निहोत्री ने कहा।

'यहाँ जो विष्णुगुप्त आया है, वह कौन है? आचार्य विष्णुगुप्त?'

'तुम पहचानते नहीं?' अग्निहोत्री ने पूछा।

'आप पहचानते हैं!' चरक ने पूछा।

'अगर वह चणक ऋषि का पुत्र है तब तो मै बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ। आचार्य शकटाल के यहाँ पढने के लिए रहता था, तब से मैं उसे पहचानता हूँ।'

'जाइये, अग्निहोत्री जी !' शौनक ने कहा, 'यह विष्णुगुप्त क्या आप वाला विष्णु हो सकता है ! यहाँ सवेरे से ही सोना बरस रहा है। राक्षस मंत्री, सिद्धाचार्य क्षपणक, शेष और सेनाजित सभी चक्कर मार रहे हैं। जैसे यह सब तुम्हारे विष्णु के लिए ही आये होंगे।'

'शौनक !' अग्निहोत्री ने ज़रा हँसकर कहा, 'पूजा गुण की होती है, वय की नहीं—छोटा होने पर भी वह पूजनीय है। कुछ वर्ष हुए मैं नैमिषारण्य गया था तब मैंने उसकी कीर्ति सुनी थी। वहाँ तो वह बृहस्पति का अवतार माना जाता है।'

शौनक ने कहा, 'जाओ, मैं सत्य कहता हूँ कि यह और आपका विष्णु एक हो ही नहीं सकते !'

'मैं वही देखने आया हूँ।' अग्निहोत्री ने कहा।

'तब मुझे भी ले चलो न ?' चरक ने कहा।

'हाँ, काका !' दूसरे ने कहा।

'चलो न भाई, ऐसे श्रोतियो के दर्शन अब दुर्लभ हैं !'

शौनक और उसके मित्र उत्साह से उसके पास आ खड़े हुए। अग्निहोत्रीजी धीमी चाल से दरवाजे के पास गये और धीरे से कड़ा खटखटाया। उसी हँसमुख ब्राह्मण ने द्वार खोला और उसकी आँखें अग्निहोत्री पर जाकर स्थिर हो गईं। उसकी हँसी उड़ गई और उसकी पुतलियाँ चक्कर काटने लगीं। अग्निहोत्री भी आँख फाड़-फाड़कर उसकी तरफ़ देखने लगे। अन्त में उस हँसमुख ब्राह्मण के गले से किसी तरह से आवाज़ निकली, 'पिताजी !'

अग्निहोत्री का कंठ भर आया और वह ब्राह्मण उनके पैरों में गिर पड़ा। अग्निहोत्री नीचे झुककर उसे उठाने लगा। उसके कंठ से किसी प्रकार यह शब्द निकला : 'कद्रु !'

अविरल अश्रु बहाता हँसमुख कद्रु खड़ा था।

१२

अग्निहोत्री ने आँसू पोंछकर स्नेह-से रुद्र के कंधे पर हाथ रखा और कहीं वह हाथ खिसक न जाय इस भय से उसने अपने हाथ से दबाया और दोनों अन्दर गये। पीछे-पीछे शौनक, चरक और उसके दो मित्र थे।

शकटाल का घर छोटा, नीचा और अँधेरा था। अँधेरी कोठरी में एक तरफ़ गाय बाँधने की जगह थी।

भीतर के आधे खण्ड में छप्पर था और शेष भाग खुला मैदान। इसके दूसरी तरफ़ ऐसा ही एक छोटा-सा खण्ड था।

बीच के खण्ड में प्रमंडक दरवाज़े के आगे ही बैठा था—गौरव और विद्वत्ता की मूर्ति के सदृश्य शान्त और तेजस्वी। पास में वृद्ध शकटाल बैठे थे। उनका जीर्ण फिर भी दृढ़ शरीर इस समय उनकी गूढ़ शक्ति की साक्षी था। उनके सामने सेनाजित बैठा था। उसके विविध आभूषण इस निर्धन परिस्थिति में कलंक से लगते थे। उसके मुख पर गर्व और अधीरता थी। वह इस नवीन आगन्तुक की ओर तिरस्कार से देख रहा था।

'प्रमंडक, पिता जी आये हैं।'

'कौन पमला, तू?' अग्निहोत्री ने स्नेहार्द्र नयनों से पूछा।

'हाँ, काका!' प्रमंडक ने कहा।

'और विष्णु—आचार्य कहाँ हैं?'

'अन्दर हैं। अभी आते हैं।' प्रमंडक ने कहा, 'बहुत वर्षों बाद आपसे भेंट हुई।'

'हाँ, भाई, इस बुढ़ापे में तुम्हें देख मेरी आँखें ठंढी हुईं।'

अग्निहोत्री शकटाल के पास बैठ गये और शौनक इत्यादि सामने विनयपूर्वक बैठे।

'कहिये आचार्य देव !' अग्निहोत्री ने पूछा ।

अंधे शकटाल ने गर्दन उठाकर और खाँसते हुए निश्चेतन स्वर में पूछा, 'कौन भानु ?'

मध्य रात्रि में उल्कापात की ध्वनि सोये हुए मनुष्यों के हृदय में जैसा आघात करती है, ठीक वैसा ही आघात इस आवाज़ से सब को हुआ ।

क्षण भर के लिये अग्निहोत्री ज़रा अस्वस्थ हुए, परन्तु फिर साहस कर पूछा, 'देव ! प्रसन्न तो हैं न ?'

शकटाल का मुख वेदना से विकृत हो गया, 'प्रसन्न ? हाँ ।'

'आचार्य !' सेनाजित अधीर होकर बोला, 'अब अँधेरा होने जा रहा है । मुझे आपसे एक बात कहनी है ।'

'क्या ?' शकटाल ने पूछा । सब शान्त होकर सुनने लगे ।

'अन्दर आइये ।'

क्षण भर को शकटाल शान्त रहे, फिर दीवार का सहारा ले खड़े हुए । ऊँचे, सूखे, स्नायुयुक्त, वृद्ध शकटाल निराशा की मूर्ति के सदृश्य भीतर के दरवाजे की तरफ़ जाने लगे । सेनाजित शकटाल का हाथ पकड़कर ले चला । शौनक और उसके मित्र कुछ नई बात जानने की और आशा छोड़ चम्पत हुए ।

सेनाजित शकटाल को अन्दर ले गया—जैसे निरुत्साही निराशा को ले जा रहा हो । अन्दर के खंड में भी आधा भाग छप्पर का था और आधा बिना छप्पर का । छप्पर के नीचे गौरी झटपट राँधने की तैयारी कर रही थी । उसके हाथ जैसे-जैसे आटा गूँधते थे वैसे-वैसे उसकी आँखें चमक उठती थीं ।

खंड के खुले हुए भाग में एक पीढ़े पर विष्णुगुप्त प्राणायाम कर रहे थे ।

सेनाजित ने एक दृष्टि गौरी पर फेंकी और दूसरी प्राणायाम करते ब्राह्मण की तरफ़ । विष्णुगुप्त ऊँचे न थे, स्वरूपवान न थे, उनके

वस्त्रों में थी केवल एक छोटी धोती, अलंकार में कंधे पर जनेऊ और ललाट पर भस्म—फिर भी सेनाजित को वह कुछ विचित्र लगे। उनको देखते ही सेनाजित की दृष्टि बदल गई। प्रमंडक फीका लगने लगा; शकटाल संकुचित और कठोर। गौरी अधिक दूर जाती दीखने लगी—दुष्प्राप्य होती दीखी और स्वयं कोई स्थूल और क्षुद्र अपराधी हो जैसा लगा। उसने गौरी की ओर देखा तो वह नीचे झुकी आंचल मसल रही थी। यह उसी की गौरी है या और कोई? यह परिवर्तन कैसे हुआ यह उसकी समझ में नहीं आया।

क्षण भर उसने आँखें मींच ली।

'आचार्य,' सेनाजित ने कहा, 'यहाँ बात करेंगे?'

'यहाँ तो विष्णुगुप्त प्राणायाम कर रहे हैं।'

गौरी ने ऊपर देखा और उसकी दृष्टि सेनाजित पर गई फिर विष्णुगुप्त पर।

गौरी के हृदय में आज नये-नये भाव और नये-नये विचार उद्भूत हो रहे थे। नदी-तट पर जब उसने सुना था कि ब्राह्मण विष्णुगुप्त नन्दराज का अपमान कर उसके घर गया है तब पहले तो उसके हृदय में एक धक्का लगा। नरेन्द्रदेव के क्रोध से कुचले गये मंत्री पर यह एक नई आपत्ति आ पड़ी, और इस आफ़त का परिणाम उसके और सेनाजित के सम्बन्ध में विक्षेप होगा, ऐसा उसे लगा। वह तत्काल घर जाने के लिये तैयार हो गई और चल पड़ी।

घर जाते हुए रास्ते में उसे विष्णुगुप्त कौन होगा, इसका विचार हो आया। वर्षों पहले जो पिता के घर शिष्य-रूप में रहता था वही 'विष्णु' तो नहीं है ऐसा संशय हुआ। उसकी स्मरण-शक्ति में एक विष्णु था—तेजस्वी और विद्वान, मितभाषी और विचारशील, जो सदैव उसके पिता से भिन्न मत रखता था, परन्तु फिर भी उनको महान् आदर देता था। यह भी उसे स्मरण था कि जब विष्णु उनके यहाँ रहता था तब पाटलिपुत्र के श्रोत्रियगण स्नेह से उसका सत्कार करते

और उसकी विलक्षण बुद्धि पर मुग्ध होते थे। बड़ी देर तक वह उसके पास शिक्षार्जन के लिये बैठी रहती और वह खेल ही खेल में उसे शास्त्रों के गहनाति गहन सिद्धान्तों को समझा देता था। वही विष्णु तो न हो ?

ऐसे संकल्प-विकल्प करती हुई गौरी सवेग घर आई और पीछे के द्वार से घर में आते ही इस खंड में उसी विष्णु को उसने देखा और पहचाना।

विष्णुगुप्त—उसके स्मरण प्रकोष्ठ में सुरक्षित विष्णु, फिर भी उसमें इतना अन्तर ! उसको मिलने के लिये एक-एक करके अनेक स्त्री, पुरुष, राक्षस मंत्री, शेष जैसा दूतप्रणिधि, क्षपणक जैसे जटिल आते-जाते उसने देखे। एक-एक करके प्रत्येक ने उससे धीरे-धीरे बातें कीं, निश्चल नयनों से वह सब की सुनता रहा, सब उसके प्रति आदर व्यक्त करते थे; परन्तु विष्णुगुप्त की शान्ति अचल थी।

गौरी गृह कार्य में जुट गई; परन्तु उसका चित्त अस्वस्थ था। उसके पिता का शिष्य ऐसा क्योंकर हो गया ? कहाँ वह स्वयं भग्नगौरव मंत्री की एक अज्ञान कन्या—सेनाजित जैसे राजसेवक की वागदत्ता और कहाँ यह विष्णुगुप्त—जिसके सामने राक्षस, शेष और जटिलाचार्य क्षपणक निर्जीव से लगते थे।

इस खण्ड में पैर रखते ही जो प्रश्न सेनाजित के मन में उठे थे वह गौरी के मन में कभी से उथल-पुथल मचा रहे थे। यह मनुष्य दूसरों से भिन्न क्यों लगता है ? प्रतापी शकटाल के एक सामान्य और निर्धन शिष्य में ऐसा क्या है जो सब का आदर-पात्र बना हुआ है ! गौरी सेनाजित को भूल गई थी। उसका हृदय इस समय केवल उसी के विचार में व्यग्र था।

जब सेनाजित शकटाल को अन्दर ले गया तब वह अपनी विचार से सजग हुई।

सेनाजित—उसका भावी पति—जिसके साथ विवाह करने के लिए वह आतुर थी—आया था। उसे देखकर उसका मन प्रफुल्लित नहीं हुआ।

आज जीवन में पहली बार उसे सेनाजित का आगमन अरुचिकर लगा। इस समय वह यहाँ क्यों आया है? उसके कंकण और कुंडल देखकर जो हर्षित हो उठती थी, वह आज इस समय उसे क्षुद्र और नगण्य दीखने लगे। जिसका सुन्दर और मोहक मुख कभी विस्मरण न होता था आज किसी के समक्ष फीका दीखने लगा। पर किसके समक्ष? यह वह कह न सकी। यह इस समय यहाँ क्यों आया है?

अनेक पूर्वजों के रक्त से बना भस्म से शोभित शरीर उसकी दृष्टि में विकार उत्पन्न कर रहा था। यदि सेनाजित ने भस्म लगायी होती तो कितना गौरवशील दीखता?

सिर नीचा किये वह रोटी सेंकती रही। उसकी व्यग्रता का पार न था।

१३

सेनाजित ने आगे जाते शकटाल को रोका, 'आचार्य! विष्णुगुप्त ध्यान करते हैं।' उसने कहा। शकटाल खड़े रहे। गौरी बारी-बारी से एक दूसरे की ओर देखती रही।

थोड़ी देर बाद विष्णुगुप्त की समाधी टूटी। उसने शान्त और गम्भीर दृष्टि से देखा। सेनाजित का मन बात स्थगित रखने का हुआ पर साहस करके शकटाल का हाथ अपने हाथ में लिया।

'आचार्य देव,' उसने कहा, 'फिर हमारा क्या सोचा?'

गौरी का मुख लज्जा से आरक्त हो गया। सिर नीचा किये आटा मसलती रही।

'विचार करूँगा।' शकटाल ने संक्षेप में उत्तर दिया।

'लेकिन कब?' सेनाजित ने थोड़ी देर में पूछा। गौरी को यह प्रश्न-परंपरा अयोग्य लगी और वह भी विष्णुगुप्त के सामने।

'नक्षत्र आने पर।' शकटाल ने उत्तर दिया।

'पर इस तरह समय बर्बाद करने से क्या लाभ?'

'नक्षत्र बिना अर्थ-सिद्धि ही न होगी।' शकटाल ने दृढ़ता से कहा।

'अर्थ ही अर्थ का नक्षत्र है। इसमें तारे क्या करेंगे?' शान्त आवाज़ आई। सेनाजित और गौरी चौंककर देखने लगे। विधि के अवतार के सदृश्य विष्णुगुप्त शान्तिपूर्वक यह वाक्य कहते उनकी ओर आ रहे थे।

सेनाजित क्षण भर के लिए अस्वस्थ हुआ और फिर इस शान्त ब्राह्मण को देख तेजोद्वेष से तड़प उठा! शकटाल कर्कश ध्वनि से हँस पड़े।

'विष्णु!' शकटाल ने कठोर स्वर में कहा, 'सेनाजित गौरी के साथ विवाह करने की तिथि पूछ रहा है।'

विष्णुगुप्त हँसे—धीरे से, तटस्थता से, 'शाकटाली सेनाजित से ब्याहे वह तिथि कब आवेगी?' उसकी आँखें गौरी पर स्थिर हो गईं। गौरी नीचे दृष्टि कर असह्य अग्नि से जलने लगी। 'शाकटाली सेनाजित को ब्याहे!—कितना विचित्र!'

सेनाजित असमंजस्य में पड़ा शकटाल की ओर देखता रहा। शकटाल के भग्नगौरव मुख पर हर्ष का, विजय का भाव कैसा? उन्होंने सिर उठाया और निस्तेज आँखें फाड़कर देखा।

'जिस दिन नरेन्द्र मुझे विष्णु के साथ नैमिषारण्य जाने दे वही तिथि होगी।' उन्होंने हँसकर कहा। हास्य में विजय और साथ ही क्रूरता भी थी। गौरी घबरा गई। यह क्या? उसके पिता नैमिषारण्य

जायेंगे! किस लिए? क्या जब तक नरेन्द्रदेव उन्हें नैमिषारण्य जाने की आज्ञा न दे दें तब तक उसका विवाह तय नहीं होगा? यह नया विचार कैसा?

अस्पष्ट मन्द हास विष्णुगुप्त के अधरों पर क्रीड़ा कर रहा था।

सेनाजित ने एक क्षण में निश्चय कर लिया, 'आचार्य देव! यदि ऐसा ही हो तो कल ही नरेन्द्रदेव से आज्ञा दिलवाऊँ!'

गौरी का गला रुँध गया। उसके पिता, वृद्ध और नेत्रहीन, उसे छोड़कर चले जायें, तो फिर लग्न में क्या सुख? उसकी दृष्टि विष्णुगुप्त के शान्त मुख पर क्रीड़ा करती स्मित पर पड़ी। यह 'विष्णु' उन्हें कोई राह न दिखायेगा?

'विष्णु?' शकटाल ने कहा, 'तब मुझे अपने साथ ले चलेगा?'

'अवश्य।' विष्णुगुप्त बाहर चले गये।

सेनाजित को शान्ति मिली। यदि शकटाल का यह संकल्प दृढ़ हो तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है? प्रियतमा मिलेगी, अवरोध-रूप और अप्रिय यह ससुर चला जायगा। 'मैं कल आऊँगा।' वह शकटाल को बाहर ले गया।

सेनाजित बाहर गया। सब—प्रमंडक और कद्रु के अतिरिक्त—हाथ जोड़कर खड़े थे। बीच में आचार्य विष्णुगुप्त स्नेह-समाचार पूछ रहे थे। नयन स्मितपूर्ण, शान्त स्वर और तटस्थता युक्त, खड़े रहने का ढङ्ग अपार्थिव, गौरवपूर्ण, चञ्चलतारहित देवता-सदृश्य। देवता क्या वह इस समस्त मनुष्य-सृष्टि से परे था? और था भी तो किस प्रकार? सेनाजित ने विष्णुगुप्त के व्यक्तित्व की विचित्रता समझी। वह मनुष्य न था। उसका व्यक्तित्व देवता के सदृश्य था, शान्त फिर भी तेजोमय ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। और यह तेज उसे सबसे अलग, दूरस्थ बना रहा था।

उस समय सेनाजित की आँखों पर अँधेरा छा गया। सवेरे से ही इस मनुष्य का नाम सुनकर उसका दिन व्यर्थ गया था, उसका कारण

भी क्या यही तेज था ? उसने अपने पिता के मुख से तपोधनों के तेज के सामने राजाओं के तेज के मन्द पड़ जाने की बात सुनी थी। क्या यह उन्हीं में से कोई एक तो नहीं है ? उसने विष्णुगुप्त के ललाट की ओर देखा। उस पर भस्म लगी हुई थी और उसमें से निकलता अदृष्ट तेज दूसरों को हीन बना रहा था।

सेनाजित ने बड़ी कठिनाई से अपनी कल्पना के उन्मुक्त प्रवाह को पथभ्रष्ट होने से बचाया। यह व्यक्ति नरेन्द्रदेव का शत्रु है, अतएव इसको ठीक करना ही उसका कर्त्तव्य था। वह प्रस्तुत वार्तालाप की ओर आकृष्ट हुआ।

'आचार्य !' अग्निहोत्री ने गम्भीर कंठ से कहा।

'विष्णु चलेगा !' कह विष्णुगुप्त प्रमंडक के आसन पर बैठे। 'आप कुशलपूर्वक तो हैं ? आपका कद्रु कैसा लगा ?'

'भाई !' गद्गद स्वर में अग्निहोत्री ने कहा, 'आपकी कृपा से उसका उद्धार हो गया।'

सेनाजित अत्यन्त ध्यानपूर्वक देख रहा था। वृद्ध अग्निहोत्री और विष्णुगुप्त में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है ? क्या यह सब ब्राह्मण एक से ही हैं ? परन्तु अधिक समय तक विचार करने का उसके पास समय न था। सब बैठ गये थे, केवल वही अभी तक खड़ा था।

'आचार्य देव ! मैं आज्ञा चाहता हूँ। आचार्य विष्णुगुप्त, फिर मिलूंगा।'

'हाँ अवश्य !' विष्णुगुप्त ने उत्तर दिया।

'भाई, ज़रूर आना।' वृद्ध शकटाल ने कहा। उनके स्वर में फिर बोलने की सामर्थ्य न थी।

सेनाजित प्रणाम करके चला गया। थोड़ी देर के लिये गम्भीर निस्तब्धता छा गई।

'क्या वह शौनक तो नहीं है ?' विष्णुगुप्त ने पूछा।

'हाँ, महाराज! मैं ही हूँ वह।' पूर्वपरिचय से प्रफुल्लित हो शौनक ने कहा, 'आपने मुझे खूब पहचाना।' उसने गर्व से अपने मित्रों की तरफ़ देखा और धीरे-धीरे उसकी जीभ खुलने लगी; 'आज आपने हद कर दी। आपने ब्राह्मण-कुल का नाम सार्थक कर दिया।'

'आप सब क्या करते हैं? जहाँ अधर्म का राज्य हो वहाँ रहना किस काम का?' विष्णुगुप्त ने पूछा।

'चाणक्य!' अग्निहोत्री ने कहा, 'क्या करें, बाप-दादाओं की सम्पत्ति छोड़कर कहाँ जायँ?'

विष्णुगुप्त प्रशान्त दृष्टि से देखते रहे। 'काका! भग्नगौरव ब्राह्मण के कैसे पूर्वज और कैसा उसका गाँव?' उसके स्वर में मिठास थी अथवा तिरस्कार यह निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता।

'विष्णु!' शकटाल ने कठोर हँसी हँसकर कहा, 'तुझे हमारी दशा विदित नहीं है।'

'गुरुदेव! आप पर ग्राम-सीमा लाँघने का प्रतिबन्ध है परन्तु यह सब लोग यहाँ पर क्यों पड़े हैं?' विष्णुगुप्त ने कहा, 'क्या नैमिषारण्य में शाँति नहीं है? कालिन्दी-कूलों के अरण्यों में फलमूल नहीं हैं? नंद को श्रोत्रियों से प्रेम नहीं तो उसे अश्रोत्रिय मगध पर राज्य करने दो। जो आदर न कर सके उसका शरणागत होने की क्या आवश्यकता है?'

सब गौरवहीन, दीन और निस्तेज थे। उनके हृदय में सदैव असन्तोष की अनवरत अग्नि धधका करती थी। इस कटु दृष्टिकोण ने अग्नि में घी का काम किया। सब उत्सुकता से सुनने लगे।

'विष्णु!' शकटाल ने कहा, 'जले पर नमक न छिड़क। तुझमें बुद्धि हो तो पथ-प्रदर्शन कर।'

'आचार्य देव को मार्ग न दीखेगा तो और किसे दीखेगा।' क्षण भर तक विष्णुगुप्त निर्निमेष दृष्टि से अन्धे मन्त्री की ओर देखता रहा।

'मुझे नहीं दीखता।' शकटाल ने निःश्वास लेकर कहा।

'तब मेरे साथ नैमिषारण्य चलने को कितने तैयार हैं? मैं कुछ दिनों में फिर चला जाऊँगा। शौनक, तू चलेगा?' सहसा विष्णुगुप्त पूछ बैठे।

'मैं!' चौंककर शौनक ने पूछा।

'हम आवेंगे।' चरक ने उत्साह से कहा।

'शौनक! श्रोत्रियो को जहाँ तप और स्वाध्याय मिले वही स्वदेश है। पाटलिपुत्र के कितने ब्राह्मण मेरे साथ चल सकते हैं?' विष्णुगुप्त ने पूछा।

'परन्तु हमारे कुटुम्ब का क्या होगा?'

'फिर आकर ले जाना। उत्तर में जो राजा दूसरी वेदमूर्ति के उपासक हैं, क्या वह तुम लोगों को आश्रय न देंगे? कद्रु! तू इस समय तो पहले अपने यहाँ जा और जो चलने को तैयार हों उन्हें ले ले। शौनक, विचार कर लेना। भानु काका! अब प्रयाण कीजिये।' जैसे कोई सामान्य बात कही हो, इस प्रकार विष्णुगुप्त ने बात पूरी की।

'आचार्य देव।' अग्निहोत्री ने शकटाल से पूछा, 'आप जाने वाले हैं क्या?'

'मेरा ठीक नहीं है।' मुँह मोड़कर शकटाल ने कहा। वह अधिक वाचाल प्रकृति के न थे।

सबने प्रस्थान किया। कद्रु अपने पिता के साथ गया। शौनकादि ने आचार्य से आशीष ली और प्रमंडक उठकर बाहर चला गया।

शकटाल के होंठ ज़ोर से हिल रहे थे। विष्णुगुप्त स्थिर दृष्टि से सब कुछ देख रहे थे।

गौरी मध्यवर्ती द्वार में आई। 'आचार्य!' उसके स्वर में क्षोभ था।

'मुझे बुलाया?' विष्णुगुप्त ने पूछा।

'सुकेतु मिलने आया है।'

विष्णुगुप्त उठे।

'देखना, भाई !' शकटाल ने कहा, 'नन्द का भेजा हुआ कोई हत्यारा न हो।'

'घबराइये नहीं, नन्द के कहने से सुकेतु किसी को मार डाले ऐसा नहीं हो सकता।'

अचम्भित हो शकटाल ने अपनी निस्तेज आँखों को विस्फारित किया। इस लड़के की गहनता को कौन माप सकता है?

१४

गौरी रसोई कर रही थी। उसकी बगल में सुकेतु और मैनाकी विष्णुगुप्त के आसन के सामने बैठे थे। आचार्य धीरे-धीरे आये।

सुकेतु और मैनाकी ने खड़े होकर नमस्कार किया, आचार्य उत्तर देकर बैठ गये। 'बोलो, क्या काम है?' आचार्य ने पूछा। उनकी तेजस्वी आँखें भावहीन थीं। मैनाकी नीचा सिरकर आँखों के कोर से इस आगन्तुक का मूल्यांकन कर रही थी।

'महाराज! मैं सुकेतु हूँ—कुमार चन्द्रगुप्त का सेना-नायक।'

'मैंने पहिचाना। संनिधाता दशक की सहधर्मिणी की क्या आज्ञा है?' सामान्य बात पूछते हों इस प्रकार आचार्य बोले।

मैनाकी घबरा गई। घबराहट में उसकी दृष्टि ऊपर उठी और उसकी भयाकुल आखें आचार्य की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगीं। तक्षशिला का यह ब्राह्मण उसे पहचान गया। यह कोई गुप्तचर है अथवा त्रिकालदर्शी! वह काँप उठी। इस अस्वस्थ दशा में उसका मोहिनी रूप और भी अधिक आकर्षक हो गया।

'आर्याओं में श्रेष्ठ मैनाकी!' कोमल स्वर में आचार्य ने कहा, 'बोलो! क्यों आई हो?'

'महाराज! कितने ही दिनों से कुमार चन्द्रगुप्त का पता नहीं है। सब लोग कहते हैं कि वे प्राग्ज्योतिष गये हैं? उनका क्या हुआ?'

'यह मैं जानूँ या महामात्र संनिधाता की पत्नी ?'

'मैंने बहुत खोज की लेकिन कुछ भी पता नहीं चला ?'

'मैं भी बहुत दिनों से खोज रहा हूँ।' सुकेतु ने कहा। आचार्य जरा हँस दिये।

'वक्रनास का ज्ञान अपार है। वक्रनास जो जानता है वह नन्द जानते हैं। जो नन्द जानता है उसे दर्शक भली भाँति जान सकते हैं। जो दर्शक जानते हैं उससे उनकी प्रियतमा अज्ञात कैसे रह सकती है ?'

मैनाकी की काली काली भव्य आँखें चमक उठीं। उस सत्य को वह कैसे भूल गई ? बात निकालने के इस मार्ग से वह क्यो अनभिज्ञ थी ? साथ ही वह विष्णुगुप्त की ओर स्तंभित हो देख रही थी। इस भयंकर त्रिकालदर्शी पुरुष की प्रशान्त दृष्टि उसके हृदय की थाह ले रही थी, उसका शान्त, तटस्थ स्वर उसको भयभीत कर रहा था, और उसके शब्दों के अर्थ की गहनता उसे मूढ बना रही थी।

मैनाकी फिर भी चतुर थी। इस व्यक्ति को वशीभूत करने में उसको अपनी विजय दीख पड़ी। वह हँसी; इस कौशल से कि अगर कहीं ऐसा हास्य कभी दर्शक ने देखा होता तो वह उसी समय मोक्ष मिल जाने के कारण प्राण देने को उतारू हो जाता। आचार्य की दृष्टि स्थिर थी।

'महाराज ! मेरे कुमार का पता लगा दीजिये।' सुकेतु ने कहा।

'मुझसे क्यों पूछते हो ?'

'आपके अतिरिक्त और कोई सहायता करने वाला नहीं दीखता।' मैनाकी के स्वर में दीनता थी।

'महाराज ! आपको जो चाहिये वह लें, परन्तु मेरी यह छोटी-सी प्रार्थना सुनें।'

'मैं क्या सहायता कर सकता हूँ ? मैं तो परदेशी हूँ। मेरा पाटलिपुत्र के साथ क्या सम्बन्ध ?'

'महाराज ! यहाँ हमारा कोई नहीं है।'

'हे आर्य-श्रेष्ठ! कहाँ आप और कहाँ मौर्य? कहाँ प्रतिष्ठित गृहिणी और कहाँ वह अप्रिय, अपमानित राजकुमार?'

मैनाकी ने अधीरता से होठों को काट लिया। उसे ऐसा लगा कि जैसे यह व्यक्ति उसकी परीक्षा कर रहा हो। उसने बेहयाई से पासा फेंका।

'आचार्य! ठीक ही तो है। कहाँ मौर्य, और कहाँ मैं? कहाँ प्रतापी नरशार्दूल और कहाँ उनकी चरण-रज?' उसकी रूपराशि चमक उठी।

सुकेतु यह साहस देख चकित हो गया।

आचार्य हँसे, 'आप साहसी हैं?'

'नहीं तो यहाँ कैसे आती?'

'आप मुझ पर क्यों विश्वास करती हैं?'

'इसलिये कि आपसे अधिक विश्वासपात्र कोई नहीं है।' मैनाकी हँसी।

'मैं धोखा दूँ तो?'

'चाणक्य? सभी देते हैं तो एक और सही!'

'लेकिन आपका गृह-संसार? आपकी प्रतिष्ठा—संनिधाता?' शुष्क तटस्थता से आचार्य ने पूछा।

'पहले कुमार—फिर सब?'

'कहो, कैसी सहायता चाहिये?'

'कुमार से मिलन!'

'फिर?'

'महाराज, आचार्य!' सुकेतु बीच में बोल उठा, 'उन्हें पाटलिपुत्र से दूर करिये। यहाँ उन्हें शान्ति से कोई जीने न देगा।'

आचार्य ने मैनाकी पर तीक्ष्ण दृष्टि डाली। वह नीचे देख रही थी। 'यह देवी जब तक यहाँ है तब तक वह पाटलिपुत्र कैसे छोड़ सकता है?' जैसे अत्यन्त ही स्वाभाविक बात हो इस प्रकार आचार्य ने कहा। लज्जा से एनम्र हो मैनाकी नीचे देखने लगी। 'कितनों को —

अपने प्राण प्रिय होते हैं और कितनों को स्त्री प्रिय होती है और सुकेतु, कितने महात्माओं को प्राण और स्त्री दोनों प्रिय होते हैं।'

'तब नन्द उन्हें मरवायेगा ही······'

'यदि मरवाया नहीं हो तो।'

सुकेतु ने खेद से सिर हिलाया।

'कुछ स्त्रियों को केवल निज स्वार्थ ही प्रिय होता है। कितनी केवल अपने प्रियतम को चाहती हैं, तो कई स्त्रियाँ प्रियतम के हित ही चाहती हैं। सुकेतु! कुछ स्त्रियों की आकांक्षा को स्वयं बृहस्पति भी नहीं जान सकते।' आचार्य ने सूत्र उच्चारण किया।

उनके भाषण की यह रीति मैनाकी को भयानक लगी। उसमें सनातन शास्त्र-वचनों की निश्चलता थी, कठोरातिकठोर वचनों की कटुता थी और उसमें निहित दुखदाई तटस्थता त्रासदायक थी। उत्तर देने के लिये आतुर उसकी जीभ सहसा रुक जाती थी, परन्तु फिर भी किसी पुराणकीर्तित ब्रह्मर्षि के शासन के लिये जो आदर उत्पन्न होता है ऐसी भावना उसके हृदय में उठ रही थी और अकथनीय शब्द उसकी जीभ पर सूख जाते थे।

सुकेतु ने दीर्घ निःश्वास छोड़ी। आचार्य मौन थे। अन्त में मैनाकी थक गई। 'आचार्य! मैं क्या करूँ?' उसने व्यग्र होकर पूछा।

'आर्या-श्रेष्ठ! कुमार के हितार्थ धन, प्रतिष्ठा और पाटलिपुत्र छोड़ सकोगी?'

मैनाकी निमिष मात्र के लिये निर्वाक् रही। उसकी आँखों में एक अद्भुत चमक उत्पन्न हुई। उसने एक दीर्घ श्वास लिया। 'कब छोड़ना है?'

'कल मध्य रात्रि में यहाँ आना—पाटलिपुत्र छोड़ने की तैयारी करके।'

'अच्छा, आऊँगी।' होठों को मींचकर मैनाकी ने कहा। उसका मोहक रूप अद्भुत भावों से आलोकित था। सुकेतु मुँह बनाये देख रहा था। 'जाओ, अब मैं कल प्रतीक्षा करूँगा। सुकेतु आयेगा ?'

'मैं तो अवश्य ही आऊँगा।' कह वह नमस्कारकर उठा। मैनाकी ने भी प्रणाम किया।

दोनों पीछे के दरवाज़े से बाहर निकले। उस समय दोनों में से किसी में भी बोलने की सामर्थ्य न थी। रात्रि में राजपथ पर भ्रमण करनेवालों को हाथ में दीपक लेकर चलने का कोई कठोर प्रतिबन्ध पाटलिपुत्र की शासन-प्रवर्त्तक सत्ता ने नहीं लगाया था, अतएव अन्धकार में अपने को छिपाकर दोनों चल पड़े।

मैनाकी का सिर घूम रहा था।

घर छोड़कर इस प्रकार बाहर घूमने का भय, विष्णुगुप्त का त्रासदायक समागम, कुमार का विरह, उसे छोड़ने की बलवती स्पृहा, उसके लिये घर-बार, मान-प्रतिष्ठा छोड़नें की प्रतिज्ञा, कल यह प्रतिज्ञा पालन करना या नहीं, ऐसे अनेक विचार उसके मस्तिष्क में हलचल पैदाकर उसे व्यग्र कर रहे थे। बहुत देर तक दोनों में से एक भी न बोला।

'सुकेतु!' मैनाकी ने कहा, 'तू क्या कहता है ?'

'देवी! आपका क्या विचार है ?' सुकेतु ने पूछा।

'मैं क्या कहूँ ? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता।'

'देवी! वाचालता क्षमा करें, तो बताऊँ।' सुकेतु ने कहा।

'कहो।' मैनाकी ने आज्ञा दी।

'नंद कुमार का प्राण अवश्य लेगा—आज नहीं तो वर्ष भर में, या दो वर्ष में। यहाँ से भाग जाने के अतिरिक्त उनके लिये कोई चारा नहीं है और आपको छोड़कर वह यहाँ से जायँगे भी नहीं।'

'इसलिये तुम्हारे सब का कहने का मतलब यही है कि मेरे ही कारण उन्हें दुःख उठाना पड़ रहा है।'

'या तो आप उन्हें छोड़ दें, नहीं तो उन्हीं के साथ भाग जायँ।'

मैनाकी उत्तर में होंठ चबाती रह गई।

दोनों में से कोई कुछ न बोला। जब मैनाकी घर पहुँची तब उसने कहा, 'कल सवेरे आ जाना।'

'फिर रात को क्या होगा?' सुकेतु ने पूछा।

'मैं सवेरे कहूँगी।'

संनिधाता आये, स्त्री को मनाने की चेष्टा की, पर अन्त में निष्फल हुए। मौन रहकर भोजन किया, और मनाने की इच्छा थी, प निन्द्रा का आक्रमण होने से वह सो गये।

मैनाकी अन्त में स्वयं उनके पास शयनार्थ आई।

दीपक के मंद प्रकाश में सोते हुए संनिधाता को उसने देखा, दिन भर सन्तोषकारक ढङ्ग से अपना कर्तव्य पूर्ण करने के कारण उनकी निद्रा में भी कोई बाधा नहीं थी; उनकी तोंद नियमित-रूप से फूल और सिकुड़ रही थी; उनके नथुनों से धीर, गम्भीर गर्जन हो रहा था।

मैनाकी के स्फटिक ललाट पर एक भयानक भ्रूभंग हुआ। उसकी आँखों में हिंसक पशु की नृशंसता उतर आई। प्रत्येक दिन रात मे यह दृश्य देखने का, यह बीभत्स ध्वनि सुनने का, सवेरे उठकर धूर्त मुख देखने का उसके भाग्य में लिखा था—जब तक इस शरीर में श्वास और प्राण रहेंगे तब तक। जिस प्रकार विषधर अजगर शिकार की ओर घूरता है इसी प्रकार वह उसे देखती रही। दर्शक का शरीर प्रतिपल घृणास्पद, अस्पर्श्य, और भयानक लगने लगा।

मैनाकी होंठ चबाती हुई खड़ी रही। उसकी दृष्टि स्थिर थी। उसका मुख पाषाण सदृश्य निश्चेष्ट था। कितना समय व्यतीत हो गया इसका उसे ज्ञान न रहा। थोड़ी देर में दर्शक ने करवट बदली।

मैनाकी चौंक उठी और आँखें मलते हुए कुछ अस्पष्ट स्वर में उसने कहा, 'आचार्य, आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है!'

१५

खाने-खिलाने के बाद गौरी आँगन में खाट डालकर सो गई। आज उसको बार-बार रोने की इच्छा होती थी। सवेरे तक उसका यह क्षुद्र जीवन सुखी था। पिताजी की सेवा और सेनाजित की भक्ति दोनों से उसका हृदय प्रफुल्लित रहता था। आज उसकी आँखो पर का काला आवरण हट गया था, आज जिस वस्तु का उसने अवलोकन किया उससे उसके हृदय में एक गम्भीर विसंवाद छिड़ा हुआ था।

अभी तक सेनाजित उसका आराध्यदेव था। भावी पति की सुन्दर मुखाकृति का स्मरण उसे मुग्ध कर रहा था: उसके अलंकारों की चमक उसकी आँखों में समा जाती, उसका मधुर हास्य उसे वशीभूत कर लेता। उसके सम्भाषण में उसे एक अनोखा आकर्षण दिखाई देता, उसकी पत्नी बनकर उसके चरणो को पूजने की आकांक्षा में ही उसे मोक्ष के दर्शन होते थे।

न स्पष्ट रूप कुछ कहा जाय और न उसके विषय में सोचा जाय इस ढङ्ग से आज उसे सेनाजित एक मौजी, अहंकारी और सत्ताधीश जानपड़ा। उसके भडकीले आभूषण में धन की क्षुद्रता, उसके हास्य में एक अनाकर्षक आत्म-संतोष, उसके वार्तालाप में एक अरुचिकर स्वार्थ निहित था।

और उसके पिता उसके लग्न के विरुद्ध थे; नहीं तो उसके विवाह के बाद से वह पाटलिपुत्र छोड़ने को क्यों तैयार हो जाते? जिस पिता ने लाड-प्यार से उसका पालन-पोषण किया, वह उसके विवाह से सुखी न था। किस लिये?

और यह विष्णु? उसका शान्त मुख, उसका तटस्थ कंठ-स्वर उसकी आकर्षक सत्ता, उसके अनेकार्थी सूत्र, उसकी भस्मालंकृत भव्यता इस सब मे ऐसा कौन-सा नवीन जादू था? उसका विकराल पिता भी जिसका आदर करता है; शेष और क्षपणक जैसे महान्

प्रतापी व्यक्ति उसे पूज्यभाव से देखते हैं; उसके दर्शन से आज सब का मूल्य क्यों बदल गया ? ऐसी क्या बात है ?

आज प्रथम बार उसे एक ब्राह्मण-कन्या होने की तीव्र अनुभूति हुई। उसके पिता ने अनेक बार अपने पूर्वजों की कथायें कही थीं। चक्रवर्ती शिशुनाग महानन्द के शासनकाल में बाल्हिकाचार्य काशी से चलकर पाटलिपुत्र आये। वह सर्वशास्त्र-विशारद और राजनीतिज्ञ थे। उनको प्राप्त यह राज्यकार्य-भार केवल उनकी अपार विद्वत्ता के फल-स्वरूप था, उनका आचार्यपद मंत्रीपद से सुविख्यात और प्रतापी था।

बाल्हिकाचार्य की स्वतः कल्पित प्रतिमा और विष्णुगुप्त दोनो उसे एक-से दृष्टिगत हुए। वही विद्वत्ता, वही गौरव—वही शान्ति, वही सत्ता, वही वाणी, वही शक्ति—इस भावना से प्रेरित पूर्वज की कन्या की संस्कारिक दृष्टि ने विष्णुगुप्त की विलक्षण विद्वत्ता में उसी गौरव का सात्विक रूप देखा। उसकी तटस्थता में वही भव्यता थी, उसकी शान्ति में वही प्रताप था, उसके शब्दो मे वैसी ही शक्ति का अस्तित्व था। उसने अपने आत्मचक्षुओं से चाणक्य की आत्मा के दर्शन किये और उसके तेजोमय आलोक में उसे समस्त वाणी तेजहीन और अनाकर्षक लगने लगे।

वह लेटी हुई विचार कर रही थी, सहसा उसकी विचारधारा भंग हुई। सामने के खण्ड में विष्णुगुप्त और उसके पिता वार्त्तालाप कर रहे थे। उसे उनकी बातें सुनने की उत्कंठा हुई। वह आँखें बन्द किये ही कान लगाकर सुनने लगी।

विष्णुगुप्त कह रहे थे: 'आचार्यदेव! मेरी प्रशंसा किस लिये करते हैं? मैं तो आपका ही बालक हूँ। गुरुवर्य! हम लोग तो बाहिल्याचार्य के किये हुए पापों का फल भोग रहे हैं।'

गौरी चमक उठी। यह लोग भी बाहिल्याचार्य की बातें कर रहे हैं। उन्होंने—उसके पूज्य पितामह ने क्या पाप किया था ?

विष्णुगुप्त के अस्पष्ट शब्द सुनाई दे रहे थे।

'मैं पहले कहा करता था कि उशनस का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है, तो आप हँस देते थे। आज मेरी बात ठीक नहीं लगती ?···बाल्हिकाचार्य ने महापद्मनन्द की आकांक्षापूर्ति के लिए राजनीति में परिवर्तन किया··· आपने उसको अग्रसित किया···दंडनीति को ही स्थायित्व दिया। आप तपोधन ने सूत्रोच्चार किया : 'लोगों की प्रगति के साधन को उद्यत-दंड होना चाहिए !' दंड···दंड···आपकी दंडनीति वक्रनास के हाथों में अपूर्वता को पहुँची—आज आप नष्ट हुए···देव ! आपका मित्र वक्रनास और नन्द उद्यत-दण्ड हो पृथ्वी का दमन कर रहे हैं।'

गौरी विस्मय में पड़ गई। उसके पिता जिनसे समस्त नगर डरता था, उन्हीं के साथ उनका यह शिष्य वादविवाद कर रहा है, और उसके पिता निर्वाक् सब कुछ सुन रहे हैं। यह परिवर्तन कैसे हुआ ?

विचार करते-करते उसे एक झोंका आया। उसके पुनः जागने पर उसने विष्णुगुप्त को बोलते सुना।

'विद्या बिना विप्र नहीं। यदि दंडनीति ही एकमात्र विद्या है तो वक्रनास ब्राह्मण है, सेनाजित ब्राह्मण है, और नन्द भी ब्राह्मण···'

सेनाजित ब्राह्मण !—नन्द जैसा···?

गौरी की नींद उड़ गई थी। शब्द-प्रवाह आगे बढ़ा।

'आचार्यदेव ! सत्य विद्या का स्थापन के बिना उद्धार नहीं।'

'बेटा ! कलि तापमान है···'

'सत्य विद्या के उद्भव से ही कलि मन्द होगा। गुरुदेव !···विद्या काल का कारण है···आन्वीक्षकी, तीन वेद और वार्ता इन—तीन विद्याओं का दण्डनीति में समावेश होने पर कलि अस्त होगा···' विष्णुगुप्त का कंठस्वर जलधि की गम्भीर गर्जना के समान उत्तरोत्तर बढ़ रहा था और मन्द होने पर उसका प्रशान्त स्वर हृदय को भेदता था···गौरी फिर निमग्न हो गई। वह फिर जगी। इस बार उसके पिता बोल रहे थे :

'तात ! मुझमें अब लेशमात्र भी शक्ति नहीं रही । मैं यहाँ रहकर क्या कर सकता हूँ ?'

'आचार्यदेव ! आप अपने को-चाहे जितना अशक्त समझें—परन्तु दो व्यक्ति अब भी आपको ऐसा नहीं मानते । वक्रनास और मैं । सर्वविद्याओं के आश्रयदाता ! विद्याओं का पुनरुद्धार आपके ही हाथ से होगा । बाल्हिकाचार्य ने जिसकी नींव डाली थी उसका विनाश भी उसका पुत्र करेगा ।'

'मै अपंग हूँ ।'

'आपकी नीति और शक्ति अभी सर्वशक्तिमान है । पाँच सौ गूढ पुरुष (गुप्तचर) आपकी सेवा में रहेंगे···'

फिर बात और भी अधिक मन्द हो गई । गौरी की नींद खुल जाने पर भी वह कुछ सुनने-समझने में असमर्थ थी । वह बिस्तरे में पडी काँप रही थी । यह दोनों व्यक्ति न जाने क्या करते थे ?

थोडी देर मे विष्णुगुप्त का स्वर स्पष्टतः सुनाई दिया :

'आचार्य की कन्या का विवाह सेनाजित से हो ! क्या बात करते हैं ?'

'दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है । और गौरी भी यही चाहती है ।' शकटाल ने कहा ।

गौरी को अपने पिता के ऐसे कथन से आश्चर्य हुआ ।

'भरद्वाज, पराशर और विशालाक्ष जैसे महर्षियों के सम्मुख आपकी कन्या का एक असंस्कारी सामान्य पुरुष से ब्याहे ?'

'मेरे अस्वीकार करने पर नन्द मुझे मारकर बलात् उसका विवाह कर देगा ।'

'गौरी का विवाह किसी और से करिये ।'

गौरी चमक उठी । यह विष्णुगुप्त क्या उथल-पुथल करने बैठा है ?

'किसकी सामर्थ्य है उससे विवाह करने की ?' निराशा से शकटाल ने कहा ।

'प्रमण्डक से विवाह कर दें।' गौरी को क्रोध आ गया।

'भद्राक्ष ऋषि का पुत्र—'

शकटाल ने धीरे से प्रश्न किया, 'कुटिल ऋषि का पौत्र, और चणक ऋषि का पुत्र मेरी कन्या स्वीकार न करेगा?'

गौरी एकदम बिस्तर पर उठ बैठी। उसके हृदय का स्पंदन तीव्र हो गया। उसकी विस्फारित आँखों के सामने विष्णुगुप्त की प्रतिमा आ खड़ी हुई। आचार्य विष्णुगुप्त की वह पत्नी बने। उसका मुख आरक्त हो गया'''और सेनाजित!

विष्णुगुप्त का शान्त एवं तटस्थ स्वर सुनाई पड़ा, 'जब धर्म और चारों विद्याओं का प्रचार होगा, जब आर्यावर्त का प्रसरण होगा तभी हे आचार्य! कुटिल का पौत्र आश्रम बदलेगा।'

हृदय का स्पन्दन रुक गया हो ऐसा गौरी को आभास हुआ।

'तब कहीं गौरी का पाणिग्रहण करोगे?'

गौरी का श्वास रुँध गया था।

शान्त और स्वस्थ स्वर ध्वनित हुआ, 'हाँ, यदि उस समय तक कौटिल्य के सुयोग्य गौरी होगी तो।'

गौरी का मुख तप्त हो गया। उसका हृदय फिर जोर से धड़क उठा। उसका मस्तिष्क घबराहट से भ्रमित होने लगा।

'बुलाऊँ?'

'हाँ।'

'गौरी! गौरी!' शकटाल ने आवाज़ दी।

गौरी उठकर आई। शर्म के कारण वह नीचे से ऊपर नहीं देख सकती थी। इस समय पृथ्वी उसे स्थान क्यों न देती थी? विष्णुगुप्त की स्थिर आँखें जैसे उसका उपहास करती हों ऐसा उसे आभास हुआ।

'गौरी!' शकटाल ने कहा, 'पुत्री-श्रेष्ठ! तेरी क्या इच्छा है?'

'कैसी?' जैसे-तैसे गौरी ने कहा।

'अभी तक तेरे विवाह की बात तेरी इच्छानुसार चल रही थी।' उँगलियों से मुद्रा कर प्रवचन कहते हों इस प्रकार शकटाल ने कहा, 'गौरी! आज दूसरी बात पैदा हुई है।'

'कौन-सी?' अधिक अवनत होते हुए गौरी ने पूछा।

'तू सेनाजित से विवाह करने की इच्छा करती है अथवा कुटिल ऋषि के पौत्र और शकटाल के शिष्य आचार्य विष्णुगुप्त से?'

'गौरी! आचार्य स्पष्ट नहीं कह रहे हैं।' चाणक्य ने शान्ति से कहा, 'सेनाजित कल ही विवाह करने को प्रस्तुत है। उससे विवाह करने पर वह तुझे भव्य प्रासादों में रखेगा, अलंकारों से आभूषित करेगा, और राज्य-वैभव से मोहित करेगा। मुझसे विवाह करने की तिथि अभी विधि ने निश्चय नहीं की, क्योंकि धर्म से सर्वोच्च कुछ नहीं, जब यह प्रतिपादित होगा तब कौटिल्य तेरा पाणीग्रहण करेगा। और हे शकटाली, जो त्रिपुरारी ने पर्वत-कन्या को दिया था वही तुझे मिलेगा—शिलातल की शैया, भिक्षापात्र, मृगचर्म और विभूति।'

गौरी बोली नहीं। वह क्या बोले? इतनी शीघ्रता में निश्चय कैसे हो? बेचारा आशवान प्रणय-प्रतिज्ञ सेनाजित कैसे छोड़ा जाय—और यह प्रतापी आकर्षक श्रोत्रिय किस प्रकार त्याज्य हो? सेनाजित का प्रेम? और उससे विवाह की उत्कंठा? इतनी छोटी-सी लड़की इन दो महारथियों को क्या उत्तर दे सकती है?

'गौरी,' शकटाल बोले, उनके स्वर मे अवर्णनीय स्नेह था। 'मैंने अपने वचन के फलस्वरूप तेरा विवाह सेनाजित से करने का निश्चय किया था और साथ ही साथ यह भी संकल्प किया था कि जिस क्षण वह तेरा पाणीग्रहण करे उस समय या तो मुझको पाटलिपुत्र अथवा प्राण त्याग देना चाहिये। बाल्हिक के पुत्र सर्व-सत्ताधीश शकटाल का भार वहन करने की पृथ्वी को आवश्यकता न पड़ेगी, क्योंकि मेरी विद्या, वैभव और सत्ता का अवशेष चिह्न तू ही है—वह भी पराई हो जाने को है। परन्तु आज यह मेरा

शिष्य आया। इसने मेरे जीवित मृतक शरीर को अनुप्राणित कर दिया। प्रेत की तरह जीवन यापन करने से जीवन्त मृत्यु श्रेयस्कर है। वाल्हिकाचार्य और शकटाल की विद्या और शक्ति मेरे पुत्र से भी अधिक प्रिय इस शिष्य में प्रगट हुई है। मेरा स्थान उसके पास है।' वृद्ध ने अवरुद्ध कंठ साफ़ करते हुए कहा, 'तेरा स्थान कहाँ है।'

गौरी के कंठ से आवाज़ न निकल सकी। उसके मितभाषी पिता की जिह्वा से आज शब्द-ज्वाला निकल रही थी, 'तेरा स्थान कहाँ? तेरी इच्छा हो तो सेनाजित से विवाह कर—मुझे अस्वीकार नहीं, मैं तो अन्धा हूँ—बिना देखे आशीष दूँगा।'

'पिताजी, मैं क्या कहूँ?' गौरी इतना ही कह सकी। क्षणभर वह मृगचर्म पर आसीन तरुण शंकर के समान विष्णुगुप्त को देखती रही।

'तुझे ही निश्चय करने का है! यदि तू सेनाजित को न व्याहेगी तो जहाँ मैं वहाँ तू—और जहाँ यह विष्णु वहाँ मैं। और यदि नन्द ग्रसित पृथ्वी पुनः मिले तो—तो भूधर महावाराह की गृह-लक्ष्मी होगी।'

तटस्थता से पद्मासन लगाया हो इस प्रकार विष्णुगुप्त निश्चल बैठे थे।

'आप की क्या इच्छा है?'

'जो तेरी इच्छा वही मेरी इच्छा है।'

'मेरी समझ में कुछ नहीं आता। कल तक कुछ नहीं था, लेकिन आज यह कैसा परिवर्तन? मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ?' गौरी ने असमंजस्यता से पूछा, 'पिताजी! आप ही मार्ग न बतावेंगे तो कौन बतायेगा?' शकटाल ने सिर हिलाया। गौरी ने निःश्वास छोड़ी। 'आचार्य!' वह विष्णुगुप्त की तरफ़ फिरी। 'आप भी कुछ नहीं कहते?'

'मैं क्या कहूँ?' शांति से विष्णुगुप्त ने कहा, यदि मदन का प्रकोप हो या राज्यलक्ष्मी का लोभ हो, या विलास-वैभव का आकर्षण

हो, अथवा दिया हुआ प्रणय-बचन टूटता हो, तो शकटाली, तू सेनाजित से विवाह कर। इससे अधिक सुखद और कुछ नही!'

गौरी अनिमेष दृष्टि से देख रही थी। चाणक्य के नेत्रों में एक भव्य आलोक प्रदीप्त हुआ। उसके शान्त स्वर में वेदवाक्य का गर्जन सुनाई पड़ा।

'परन्तु यदि महर्षि के चरण-सेवन करती ऋषिपत्नी की स्पर्धा करने की उत्कंठा हो तो, गौरी, ब्रह्मचर्याश्रम में जिस प्रकार तू पहले थी उसी प्रकार तू मेरी सहब्रह्मचारिणी बनकर रह। गृहस्थाश्रम मे तू मेरी सहधर्मचारिणी होगी। आचार्य देव को मैंने कुछ दिया नहीं। मेरा व्रत ही मेरी गुरु-दक्षिणा होगी!'

गौरी की आँखें स्थिर थीं। विष्णुगुप्त के शब्दों की भयंकर गर्जना अब भी उसके कर्ण-कुहरों में प्रतिध्वनित हो रही थी। उसकी तिमिरमय आँखों को पहले का ब्रह्मचारी विष्णु पिनाकपाणि से अधिक प्रभावशाली दीखा। उसके पिता—उसका विष्णु इस समय दोनों एक ही थे। वह उसकी है या दूर दिखाई देते सेनाजित की? विवाह की प्रतिज्ञा, वैभव की आकांक्षा उसका हृदय भेद रही थी। धर्म की जय, तप की सिद्धि हृदय में संशयात्मक संग्राम कर रहे थे। आँखों पर अन्धकार छाने लगा, श्रवण शक्ति लुप्त हो गई! उसके घुटने मुड़े—उसने सिर झुका दिया। निश्चेतनता के तिमिर में से एक प्रशान्त स्वर ध्वनित हुआ; 'आचार्य देव! जहाँ धर्म वहाँ जय।'

१६

नरेन्द्रदेव के जागने का समय हो गया था।

बालेन्दु की स्वर्ण-रश्मियाँ मोहनगृह के रत्नजड़ित स्तम्भों में सहस्रों सूर्य का प्रतिबिम्ब डाल रही थीं।

सूर्य की इस प्रतिबिम्बित प्रभा में राक्षसी यवन स्त्री-सैनिक नियमानुसार, मोहनगृह के आस-पास हाथ जोड़कर खड़ी थी।

मोहनगृह के अग्रभाग में भयंकर द्वारपाल प्रस्तर-प्रतिमा जैसे निश्चल, हाथों में नङ्गी तलवारें लिये खड़े थे।

अन्दर के खंड में चार कुबड़े वामन द्वार की रक्षा करते थे। उनके रंग और रूप का किसी भयंकर स्वप्न में निर्माण किया गया हो ऐसा प्रतीत होता था। बड़ी-बड़ी काली आँखों को फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

यह खंड बड़ा था। उसकी चाँदी से मढ़ी दीवालों और स्तम्भों मे लाल और नीलम जड़े हुए थे। अन्दर के दरवाजे के सामने चाँदी के दो सिंह खड़े थे।

पार्श्व में चाँदी की रुचिर कारीगरी से सुशोभित एक चौकी थी। उस पर वक्रनास और राक्षस बैठे थे। राक्षस के मुख पर उद्विग्नता की स्पष्ट छाप थी। अमात्य वक्रनास की हमेशा की तरह द्वेषपूर्ण, दुष्टता-दर्शक मुखाकृति वैसी ही थी—केवल वृद्धावस्था के कारण कभी-कभी हिलने में अपनी विशिष्टता चारों ओर प्रसारित करता था।

वहाँ से अन्दर घुसने पर सुवर्ण-खंड में सेनाजित अपने रोज़ के स्थान पर खड़ा था। पास ही में कंचुकी नरेन्द्रदेव के उठने की प्रतीक्षा कर रहा था। रह-रहकर अन्दर के खण्ड में देख लेता था। दो कुरूपा, वृद्ध होने पर भी सशक्त यवन स्त्रियाँ धनुष लेकर अन्दर के द्वार का रक्षण कर रही थीं।

इस खण्ड में चार स्वर्णनिर्मित दीवालें चैत्यों के आकार में बाँधी गई थीं और उन्हें नीलमों से अलंकृत किया था। इस खण्ड के बीच में एक झरोखा था। उसमें से प्रकाश और वायु आती थी। झरोखे पर चार यवन स्त्रियाँ पहरा दे रही थीं।

उसके अन्दर शयनखण्ड था। सुरभित चन्दन के काष्ठ की दीवालों और स्तम्भों पर सोने से की गई नक्काशी चमक रही थी। चारों दिशा में चार देवताओं की सुघड़ प्रतिमा दीवाल में जड़ी हुई

थीं। चारों तरफ से दीवालों में खुदे झरोखो में से पवन संचरित हो रहा था।

द्वार के अग्रभाग में चबूतरे की ओट में एक दासी ऊँघ रही थी। उसको लाँघकर अन्दर जाने वाले को यावनी तत्काल अपने तीर का निशाना बना देती क्योंकि उसकी आज्ञा के बगैर कोई भी शयनकक्ष में नहीं जा सकता था।

इस सुरक्षित शयनखण्ड में आर्यावर्त का चक्रवर्ती, इन्द्र के वैभव की विडम्बना करनेवाला हिरण्यगुप्त नन्द नरेन्द्र अकेला चन्दन की पलंग पर शयन करता था।

खण्ड में थोड़ा उजाला होने लगा था। पलंग पर नरेन्द्रदेव ने अँगड़ाई ली। कुब्जा भी सतर्क हो बिस्तर मे उठकर बैठ गई थी।

नन्द ने अँगड़ाई लेकर आवाज़ दी, 'कुब्जा!'

'जय नरेन्द्र!' कह कुब्जा दौड़ी हुई आई। साठ वर्ष के लगभग अवस्था वाली एक कुरूपा, सशक्त, स्त्री-जगत की कलंक रूप इस राक्षसी के अतिरिक्त नन्द निश्चेतन अवस्था में किसी भी व्यक्ति को अपना शरीर स्वाधीन नही करते थे।

बाहर खड़ी दो यावनी हाथ जोड़े अन्दर आकर खड़ी हो गईं। नरेन्द्रदेव आज कुछ व्याकुल थे। 'राक्षस आया है?'

'हाँ!' यावनी ने कहा।

'और वक्रनास?'

'वह भी।'

'बुला!' कहकर नरेन्द्रदेव ने एक छलाँग मार स्वर्णखण्ड में प्रवेश किया।

सेनाजित और कंचुकी ने साष्टांग दण्डवत किया।

'सेनाजित!' नरेन्द्रदेव बोले, 'वक्रनास कहाँ है? राक्षस कहाँ है?'

'बुलाता हूँ।' कहकर सेनाजित बाहर गया।

'कृपानाथ !' कह कंचुकी ने स्वर्ण-कलश पर रखे दातून को सम्मुख रखा।

उसकी ओर दृष्टि किये बिना नरेन्द्र ने उसे उठा लिया और मुँह में रखा। उसने एक हाथ से बालों को ऊपर किया। अलस मुख से दतून चबाते हुए, बिखरे बालों का उन्मुक्त नर्तन और फिर उस पर चमकती हुई दो लाल-लाल आँखें, इस समय नरेन्द्र को गौरवान्वित कर रही थीं।

वक्रनास और राक्षस आये। राक्षस ने साष्टांग प्रणाम किया। वक्रनास के आठों अंग इस समय अनुशासित न होने के कारण उसने केवल नमस्कार ही किया, यह उसको अधिकार प्राप्त था जिसका उसने समयोचित उपयोग किया।

'कंचुकी, बाहर जा !' दतून चबाते हुए नरेन्द्र ने कहा, 'राक्षस ! कल हो आये ? क्या हुआ ?' कंचुकी और सेनाजित बाहर चले गये !

'देव ! विष्णुगुप्त ने आना अस्वीकार किया !'

'क्यों ?' भ्रूभंग के साथ नरेन्द्र ने पूछा।

'उसने कहा कि जिस घर में विद्या का निवास नहीं, वहाँ मैं नहीं आ सकता।'

'ऐसा !' नरेन्द्र ने कहा, 'फिर ?'

'नहीं आये और क्या ?'

'ब्राह्मण उद्दण्ड है।' वक्रनास ने कहा।

'गुरुवर्य ! ऐसा नहीं है।'

'क्यों ?'

'वह विद्वान है, प्रभावशाली और निर्भय है।'

'तू उस पर प्रसन्न हो गया हो ऐसा लगता है।' नरेन्द्र ने कहा।

'देव ! यदि मैं आपका दास न होता तो उसकी पूजा करता।' राक्षस ने साहस से कहा, 'ऐसे श्रोत्रियों के रोज़ दर्शन नहीं होते।'

'लेकिन दास है इसलिये ?' वक्रनास ने कठोर होकर पूछा।

'इसलिये मैं उसको जड़मूल से उखाड़ दूँगा। मुझे क्या कहा है यह मालूम है? मुझसे कहता है, 'मन्त्रीवर! आप और मैं कब साथ-साथ धर्म राज्याभार वहन करेंगे?' मैंने कहा, 'आचार्य! यदि आपकी इच्छा हो तो आज ही नरेन्द्रदेव आपको मन्त्रीपद दे दें।'

'फिर?' नरेन्द्र ने पूछा।

' 'मन्त्रीवर।' उसने भयंकर शान्ति से कहा, 'धर्मराज्य के लिये धर्मराज इन्द्र और गुरु बृहस्पति दोनों अनिवार्य हैं।'

'दोनो हैं।' एक दुष्ट हास्य से वक्रनास ने कहा।

'वक्रनास! अब क्या करोगे?' नंद ने हिचकिचाकर पूछा।

'वह लड़का इस तरह से वशीभूत नहीं होगा। कल उसके यहाँ शेष, क्षपणक, अग्निहोत्री, भानु और कुछ और भी गये थे। सेनाजित गया था। रात को सुकेतु और कोई स्त्री भी गई थी।' वक्रनास ने अपनी सर्वज्ञता दिखाई।

'ऐं!' नरेन्द्र ने कहा, 'फिर?' उसके स्वर में चिन्ता थी।

'दो ही रास्ते हैं।' दीर्घदर्शी मन्त्री ने उत्तर दिया।

'कौन से?'

'या तो वह मर जाय या वह यहाँ से चला जाय।' अत्यन्त शान्ति से वक्रनास ने कहा।

नरेन्द्र प्रशंसामुग्ध हो उसे देख रहे थे। 'राक्षस! उसे मरवा डाल।'

'नहीं।' तिरस्कृत हास्य से वक्रनास ने कहा, 'यह राक्षस का काम नहीं है। चणक ऋषि का पुत्र, शेष और आभि का मित्र और क्षपणक का पूज्य, उसकी हत्या इस प्रकार कैसे हो सकती है?'

'फिर?' दतून को ज़ोर से दबाते हुए नंद ने पूछा।

'सेनाजित की गौरी के सिवाय शकटाल के यहाँ और भी कोई रसोई बनाता है?' निर्दोषता से वक्रनास ने पूछा। नरेन्द्र समझे और हँसे।

'सेनाजित मानेगा ?' उसने पूछा ।

'क्यो नहीं ? यदि उसको गौरी मानती है तो ।' वक्रनास ने कहा ।

'सेनाजित !'

'प्रभो !' कह सेनाजित अन्दर आया ।

'कल तू शकटाल के यहाँ गया था ?'

'हाँ, अपने विवाह की तिथि का निश्चय करने के लिये ।' ज़रा अस्वस्थता से सेनाजित ने कहा ।

'उस विष्णुगुप्त से मिला ?' नरेन्द्र ने पूछा ।

'हाँ, अन्नदाता !'

'कैसा था वह ?'

'भयंकर !'

'उसको दूर करना चाहिए । तेरी क्या इच्छा है ?' वक्रनास ने कहा ।

'मुझे भी ऐसा ही लगता है,' सेनाजित ने उत्तर दिया, 'लेकिन किस तरह ?'

'यह तेरे हाथ में है—गौरी के हाथ में है ।' वक्रनास ने निष्कंप स्वर से कहा ।

'मेरे हाथ और गौरी के हाथ में !' क्षणभर के लिये सेनाजित विचारमग्न हो गया, परन्तु तत्काल समझकर कुछ हिचकिचाया । 'देव ! गौरी मेरी आज्ञा न मानेगी ।'

'क्यों ?'

'इस आदमी के आने से न जाने क्यों ऐसा लगता है कि गौरी जो थी वह अब नहीं है ।' सेनाजित ने अवनत मुख से उत्तर दिया । 'मुझे विश्वास नहीं होता ।'

'तो जाने दे ।' नरेन्द्र ने कहा, 'तब क्या करें ?'

'मै विचार करूँगा ।' वक्रनास ने कहा । 'लेकिन सेनाजित ! तेरे विवाह का क्या हुआ ?'

सेनाजित ने नीचे देखकर कहा, 'नरेन्द्रदेव की आज्ञा हो तो कहूँ ?'

'हाँ, हाँ, खुशी से !'

'प्रभो ! शकटाल कहता है कि यदि उसको नैमिषारण्य जाने की आज्ञा हो तो वह गौरी के विवाह के लिये तैयार है ।'

'ऐसा !' वक्रदृष्टि से वक्रनास ने देखते हुए कहा ।

'क्यों, उसे क्या हुआ है ?' नरेन्द्र ने हँसकर कहा ।

'उसको पाटलिपुत्र छोड़ना है ।'

'हूँ,' वक्रनास ने कहा, 'अच्छा, वह बात फिर होगी ।'

'सेनाजित, तू महादेवी को तैयार कर । राक्षस, तू कुमार आंभि को उनके पास ले जा, उसको अपनी बहिन से मिलना है । हम भी आ पहुँचेंगे ।'

'जैसी आज्ञा ।' कह सेनाजित और राक्षस ने छुट्टी ली । उन दोनो के प्रस्थान पर नन्द अमात्य की ओर देखने लगे । वक्रनास के क्रूर मुख पर एक भयंकर हास्य नृत्य करने लगा ।

'यह लड़का पक्का है ।' उसने कहा ।

'ऐसा ?'

'उसको यहाँ से निकालना चाहिये ।'

'यह तो ठीक है, लेकिन किस तरह ?' नरेन्द्र ने कहा ।

'एक तो चन्द्रगुप्त की पीड़ा है ही ।' वक्रनास ने सरस गणना शुरू की, 'शेष यहाँ है, उसमें आंभि का आगमन । शकटाल नैमिषारण्य जाने को उत्सुक है । क्षपणक नये-नये भविष्य-वाक्य उच्चारण करता है और उसमें यह यहाँ आ पहुँचा । इनमें से किसी को एक-दूसरे से न मिलने देना चाहिये ।' विचार करके फिर बोला, 'एक ही मार्ग है ।'

'कौन-सा ?'

'इन सबको बिखेर देना । महादेवी को तक्षशिला भेज दो—इससे आंभि और यह विष्णुगुप्त यहाँ से चला जाय ।'

'क्या कहते हो ?' आश्चर्य-चकित हो नरेन्द्रदेव ने कहा। अभी तक तो किसी भी प्रकार से महादेवी को न जाने देने का विचार था।'

'हाँ, यदि महादेवी रहेंगी तो आंभि रहेगा, और फिर यह विष्णुगुप्त भी टिकेगा। एक दिन में जो शकटाल को पाटलिपुत्र छोड़ देने की प्रेरणा दे रहा है वह महीने भर में तो न जाने क्या करेगा ? और फिर शेष भी उनका सहयोगी है। शेष की माँ और चन्द्रगुप्त की दादी दोनों सगी बहिन हैं। भूल गये ?'

'ठीक बात है। यह तो मैं भूल ही गया था।'

'और शकटाल को जाने की आज्ञा दे दें, लेकिन गौरी के विवाह की तिथि बढ़ा दें। इससे शकटाल फिर यहीं रह जायगा। मेरी दृष्टि की परिधि से वह बाहर जाय, यह मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। अन्धा है वह, परन्तु सचेत होने पर विषम परिस्थिति खड़ी कर देगा।'

'एक दिन समाप्त कर दें।'

'अभी नहीं, समय आने पर वह भी होगा।'

'तब महादेवी को जाने ही दें। मुझे उस-पर ऐसा क्रोध आता है...!' नरेन्द्रदेव ने दाँत पीसकर पत्नी के प्रति अपना भाव दर्शाया।

'अभी उन्हें जाने दो। नही तो यह ब्राह्मण सारे पापग्रह का केन्द्र बन जायगा।'

'अच्छा, तब महादेवी को कब भेज दें ?'

'आज क्या हुई, तीज ? चौथ, पञ्चमी, छठ, छठ को ! आचार्य विष्णुगुप्त को समाज समाप्त होने पर अर्घ्य भी दे दें। उनको भी पाटलिपुत्र का मोह न रह जाय और इन्द्र और बृहस्पति का स्मरण रहे।' कह वक्रनास ने भयंकर हास्य से अपना आत्म-संतोष प्रगट किया। 'चलिये, दतून कर लें। महादेवी और उनके भाई का हास्य-विनोद ही सुनें, फिर सुनने को न मिलेगा।'

'हाँ।' हँसकर नरेन्द्र ने कहा। वक्रनास के इस कथन के ढङ्ग पर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ, केवल उसमें कसर इतनी ही थी कि महादेवी चली जा रही थी। नन्द को महादेवी अप्रिय थी, परन्तु उसके अद्भुत सौन्दर्य से उन्हें तृप्ति नहीं होती थी।

१७

मैना हठपूर्वक बोल रही थी, 'कल्याणी-सेनाजित-कल्याणी सेनाजित।'

अपने अंतःपुर में सुमोहा आशान्वित नयनों से द्वार की ओर देख रही थी। उसका पूर्णचन्द्र जैसा विलासी मुख इस समय रक्ताभ हो रहा था। वह ब्याह कर आई उस समय जैसा उत्साह उसके हृदय में था वैसी ही आशा और उत्साह आज उसे पितृगृह जाने के लिए प्रेरित कर रहे थे।

उसके शरीर के अलंकारों में से छोटे-बड़े रत्न आलोकित हो रहे थे। स्रष्टा के धनसंचय में से लिये गये अमूल्य हीरे जैसी आँखें उनसे भी अधिक अपूर्वता से चमक रही थीं।

आज उसके दो अपूर्व अधर लालायित थे—चुम्बन के लिये नहीं, प्रणय के लिये नहीं—भाई की ख़बर पूछने के लिये।

सेनाजित ने आकर प्रणाम किया, 'महादेवी! कुमार आंभि आये हैं।'

द्वार के मध्य में स्वर्ण-कवच से सुसज्जित, महादेवी के समान लेकिन ज़रा कठोर प्रतिमा खड़ी थी।

'बन्धु!' महादेवी के चिर पिपासित अधरों ने अमृतपान किया।

'भगिनी!' द्वार में से आंभि अन्दर आया। उसका स्वर हर्षार्द्र था। पीछे राक्षस आकर खड़ा हो गया।

'भाई ! तुम कितने बड़े हो गये हो ?' विहंगनी सदृश्य उड़कर महादेवी सामने आई।

'और तू सुमोहा ! तू स्त्री नहीं रही—स्त्री के आकार में तू तेजपुञ्ज बन गई।'

अपने शृंगार की ओर सुमोहा गर्व से देखती रही। वह अतिशय सुन्दरी है इसका आभास उसे बहुत दिनों के बाद हुआ। लज्जा से उसके कपोल रक्तिम हो उठे।

'बन्धु ! पिताजी कैसे हैं ?'

'प्रसन्न चित्त ! माँ भी सुखपूर्वक है। तू कैसी है ?'

'मैं ?' चौंककर सुमोहा ने कहा, 'ठीक हूँ।' उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ी। क्षण भर में आशा, उत्साह और आनन्द का वारिधि उतर गया। उसकी शोचनीय दशा का उसे ज्ञान हुआ। भयभीत हरिणी सदृश्य वह चारों तरफ़ विस्फारित नयनों से देखने लगी।

'राक्षस, सेनाजित और अपरिचित।' मैना ने अपना कर्त्तव्य पालन किया।

सुमोहा निस्तेज हो गई। उसके अधर की रक्तिमा उड़ गई। आंभि सतर्कता से इस परिवर्तन को देख रहा था।

'एक दूसरा समाचार तुझे सुनाऊँ, तेरी सहेली मर गई।' उसने धीरे से कहा।

सुमोहा चौंकी। उसको कल्याणी का संकेत याद आया। क्या वह वृद्ध दासी उसका और उसके भाई का संवाद ले जा और ला सकती है ?

उसने श्वास रोककर पूछा, 'कौन सी ?'

'कल्याणी।' भाई और बहिन की आँखें मिल गईं। राक्षस और सेनाजित इस दृष्टि का अर्थ न समझ सके।

राक्षस और सेनाजित के संशय से बचने के लिए महादेवी अकारण हँसने लगी। आंभि भी हँस-हँसकर तक्षशिला की बातें करने लगा।

वह आमने-सामने बैठ गये। राक्षस और सेनाजित थोडी दूर सेवकों की मानभरी प्रणाली और चौकीदारों की सावधानी से बैठ गये। क्षण भर में भाई-बहिन के अतीत के स्मरणों से मगध के अंतःपुर का विश्वासहीन अत्याचारी वातावरण अदृश्य हो गया, और गिरितुंगों में स्वतन्त्रता से विचरण करनेवाला तक्षशिला का संस्कारमय वातावरण प्रसरित हो गया।

दैदीप्यमान सूर्य पर राहु के आक्रमण के समान; उल्लासमय बालवृन्दों पर यमराज की प्रति-छाया के समान, नरेन्द्रदेव और वक्रनास का हास्य सुनाई दिया। महादेवी का अविकल हास्य रुक गया। आंभि का स्नेह शुष्क हो गया।

कंचुकी आया। 'महादेवी! नरेन्द्रदेव और वक्रनास पधार रहे हैं।'

सुमोहा खडी हो गई। तीनो पुरुष भी अस्त्र-शस्त्र ठीक करते हुए सतर्क हो खडे हो गये।

नरेन्द्रदेव की आँखो में अब भी निन्द्रा के अवशेष चिह्न बाकी थे। उनके बाल अव्यस्थित थे। उनके होठ की स्थूलता इस समय और भी अधिक दिखाई दे रही थी।

वक्रनास के मुख पर का स्वभावजन्य द्वेष और अधिक स्पष्ट हो गया।

'क्यों कुमार!' नरेन्द्र ने कहा, 'बहिन से मिले? हमारे यहाँ किसी प्रकार का दुःख तो नहीं हुआ?' उसने लम्पटता से पूछा!

आंभि ने नमस्कार किया। 'नरेन्द्रदेव, भला आपके यहाँ किसी चीज की कमी हो सकती है?'

वक्रनास वाम चक्षु से आंभि की ओर देख रहा था। 'सुबाहु-राज की कन्या को शोभा दे ऐसा सुख है न?'

आंभि वक्रनास की ओर देखकर अपना तिरस्कार न छिपा सका।

मौन होकर नरेन्द्रदेव की ओर देखने लगा। अमात्य को उत्तर देने का कष्ट नहीं किया।

'मगधनाथ!' आंभि ने कहा, 'सुमोहा के लिए आपके यहाँ सुख की क्या कमी है? लेकिन हमारा क्षुद्र हृदय धैर्य कैसे रख सकता है?'

महादेवी अवनत दृष्टि से म्लान खडी थी। आज नरेन्द्रदेव और वक्रनास के हाव-भाव उसे भयंकर लग रहे थे; और क्षण भर भाई से की हुई बातों ने इस भयप्रद संसार को और भी अधिक साकार कर दिया था। यह भाई तो कल चला ही जायगा। उसे तो यहीं, इसी दूषित वातावरण में रहना है।

'ठीक है।' नरेन्द्रदेव ने कहा, 'लेकिन महादेवी को आपके यहाँ सा तो सुख नही मिलता होगा। क्यों ठीक है न?' उसने सुमोहा की तरफ़ फिरकर पूछा।

सुमोहा बोली नहीं। वक्रनास हँसा, 'यह तो सब के लिए स्वाभाविक है। लेकिन आंभिराज! आप महादेवी की कुशल पूछने आये हैं या उनको ले जाने के लिए भी?'

नंद कुटिल हँसी हँसा। इन शब्दों पर तो जीवन आधारित है, यह सोचकर महादेवी ने आँखें मींच लीं। आंभि ने तीक्ष्ण दृष्टि से नरेन्द्र और वक्रनास का गुह्य प्रयोजन समझने का प्रयत्न किया।

'नरेन्द्रदेव!' उसने वक्रनास के प्रश्न का उत्तर दिया, 'महादेवी को चलना हो तो ले जाने के लिए, न चलना हो तो केवल कुशल क्षेम पूछने के लिए आया हूँ।'

नन्द जोर से हँस पड़ा, 'वक्रनास!' उसने कहा, 'मैंने नहीं कहा था कि कुमार सुबाहुराज की पटुता को भी मात कर देंगे? महादेवी! अब आप की क्या इच्छा है? क्यों न वक्रनास? इनकी जैसी इच्छा हो।'

सुमोहा नम्रता के अवतार-सी बनी खडी थी। उसकी आँखों का तेज, हृदय में स्थायी क्रोध का सूक्ष्म दर्शन करा रहा था। 'मेरी क्या इच्छा? स्वामी की आज्ञा ही मेरी इच्छा है।'

नरेन्द्र ने उद्दण्डता से हँसकर वक्रनास की तरफ देखा। 'वक्रनास, मगध के धन्यभाग हैं जो ऐसी सुशीला आर्या उसके महादेवी पद पर है। ठीक है न ? आंभिराज ! महादेवी जायँगी तो मेरा हृदय तो विदारित हो जायगा। क्या करूँ यह न सूझेगा ! क्यों न वक्रनास ! लेकिन बहुत वर्षों से महादेवी अपने माँ-बाप से नहीं मिलीं इसलिये उन्हें भेजना ही होगा।' नन्द की आँखों में लालसा और उत्सुकता स्पष्टतया झलक रही थी। उसकी भूखी आँखें महादेवी पर पड़ते ही और भी बुभुक्षित हो उठती थीं।

महादेवी ने तिरछी दृष्टि से नरेन्द्रदेव को देखा। क्या उसने यह सब ठीक सुना है ? क्या उसको इस कारागृह से छूटने की आज्ञा मिलेगी ? क्या मरने से पहले वह एक बार माता-पिता के दर्शन कर सकेगी ? उसके असीम आह्लाद के अनुरूप ही यह बात सत्य होगी या नहीं, उसे शंका हुई। वह क्षोभ से हाथ के कंकण घुमाती हुई खड़ी रही।

आंभि भी शंकित हृदय से सब कुछ सुन रहा था। सेनाजित चकित था। राक्षस अपनी आँखें संकुचितकर इस रहस्य के आवरण को हटाने का विफल प्रयत्न कर रहा था।

'नरेन्द्रदेव !' वक्रनास ने तिरस्कारयुक्त हास्य से कहा, 'जिस प्रकार पत्नी को पति की आज्ञा, उसी प्रकार पुत्री को माता-पिता की सेवा है। महादेवी को जाना ही चाहिये—यदि सुबाहुराज ने बुलाया हो तो।'

आंभि फिर विचारमग्न हो गया। अशक्य बात इस सरलता से कैसे शक्य हो सकती है ? वह कुछ ऐसा कहना चाहता था जिससे वह बँध न सके और इन लोगों की बात समझ सके और समय मिलने पर आचार्य विष्णुगुप्त की भी सलाह ले सके। लेकिन महादेवी के मुख के परिवर्तन को देख वह स्तब्ध हो गया। निशा के तमसान्धकार पर उषा का असीम आलोक प्रसरित हो, इसी प्रकार महादेवी के म्लान

मुख पर हर्ष और उत्साह का आलोक छा गया। उसके नेत्रों में से तेजपुञ्ज स्फुरित हुए उनमें 'तक्षशिला! तक्षशिला!' ही अंकित था।

'देव!' उसने कहा, 'मुझसे आंभि अभी कहता था कि मेरी माता बीमार है, मुझसे मिलने की इच्छुक हैं। मेरा जाने का ही विचार है।'

'तब आपने ही निश्चय कर लिया।' नरेन्द्र ने हँसकर कहा, 'चलो, अब तो हमें बोलने को कुछ रह ही नहीं गया, क्यों वक्रनास? महादेवी को जल्दी ही जाना पड़ेगा—माताजी बीमार हैं फिर कैसे होगा? वक्रनास! शुभ तिथि कब है?'

'आज तीज हो गई। छठ को प्रयाणग्रह बहुत ही शुभ है?'

'ठीक, तब छठ को जाओ।' नरेन्द्र ने कहा, 'लेकिन भूला। आंभि, यदि आपको यहाँ रहना हो तो हमें कुछ भी आपत्ति नहीं।'

'जी नहीं! मुझे भी जितनी जल्दी पहुँच सकूँ पहुँचना है।'

'लेकिन ऐसी जल्दी का क्या काम है?' वक्रनास ने उपहास के स्वर में कहा।

'माताजी बीमार हैं न।' समोहा ने कहा।

'तब छठ का समाज समाप्त करके जाइयेगा।' वक्रनास ने कहा।

'समाज! कब है?'

'आपके भाई आये हैं न?' नरेन्द्र ने कहा।

'इसके बिना कहीं दूसरा मंगल-कार्य हो सकता है?' वक्रनास ने एक आँख मींचकर कहा, 'बड़ी कृपा की है, ओः हो! और फिर आचार्य विष्णुगुप्त को भी अर्घ्य देना है।'

सुमोहा और आंभि यह नई बात सुनकर चकित रह गये। दो-तीन मिनट तक इस प्रकार वार्तालाप चलता रहा। इतने में एक कंचुकी दौड़ता हुआ आया।

'कृपानाथ!' वह हाथ जोड़कर खड़ा रहा। वह अत्यन्त

क्षुब्ध था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था क्या कहे? 'क्या है?' अधीरता से नरेन्द्र ने पूछा। सेनाजित कंचुकी के पास गया।

'तक्षशिला के ब्राह्मण ने उग्रसेन स्थानिक को मार डाला। बाहर समाचार आया है।'

'क्या कहा?' कहकर नरेन्द्रदेव उठ खड़े हुए, साथ ही सब खड़े हो गये।

'कौन?'

वक्रनास की आधी आँख मिंच गई थी। कंचुकी क्षोभ से आगे कुछ न कह सका।

'क्या है?' वक्रनास ने आगे आकर कहा? आंभि भी पास खड़ा हो गया।

'गौतम निवास पर तक्षशिला के आचार्य ने उग्रसेन स्थानिक को बींध दिया।'

'ऐसा नहीं हो सकता पागल!' वक्रनास ने कहा।

'आपके आचार्य ने यह क्या किया?' नरेन्द्र ने आंभि से पूछा।

'आचार्य विष्णुगुप्त कभी ऐसा अविवेक नहीं कर सकते। किसी ने उनको छेड़ा होगा।'

'लेकिन वह क्या कोई योद्धा है?' वक्रनास ने कहा!

'युद्ध होगा तब बतायेगा। लेकिन मैं जाकर देखता हूँ क्या बात है।' आंभि यह कहकर आगे बढ़ा।

'राक्षस, तू भी जा, देख क्या हुआ है!' नरेन्द्रदेव ने कहा।

'नरेन्द्रदेव!' आंभि ने क्रोध में कहा, 'अगर आचार्य को कुछ हुआ तो···' लेकिन वाक्य पूरा किये बिना ही वह जल्दी से आगे बढ़ गया। नरेन्द्रदेव उसकी ओर द्वेष से देखता रहा।

'तब क्या होगा?' राक्षस की ओर अर्थसूचक दृष्टि से देखकर वक्रनास ने कहा।

'गुरुवर्य!' राक्षस ने दृढ़ता से कहा, 'मेरे हाथ से ब्रह्महत्या नहीं होगी। युद्ध में मिलेगा तो दूसरी बात है।'

'जाओ, फिर बात होगी।' नरेन्द्र ने भ्रूभंगकर आज्ञा दी।

राक्षस बाहर चला गया।

१८

आंभि वायुवेग से राजगृह के बाहर निकला और पीछे-पीछे राक्षस भी था।

आंभि के अश्वारोही सेनानायक घोड़ा दौड़ाकर उसके पीछे चले। राक्षस के अनुयायी भी मन्त्री के पीछे हो लिये।

आंभि के नायक लम्बे, सशक्त, श्वेतवर्ण वाले आजकल के पठानों के पूर्वजों के समान—विशाल देहधारी थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें और काली दाढी पाटलिपुत्र निवासियों को आश्चर्य में डाल देती थीं।

आंभि के नायक सवेग गौतम-निवास आ पहुँचे। आंभि के नथुने असह्य क्रोध से फटे जा रहे थे। राक्षस स्वस्थ था, परन्तु उसके मुख पर चिन्ता व्याप्त थी!

निवास के समीप आते ही समुद्र गर्जना के समान ध्वनि सुनाई दी; और निवास के मार्ग से सैकड़ों मनुष्यों की भीड़ को चीरते हुए घोड़े आगे बढ़ गये।

असंख्य स्त्री-पुरुषों का वारिधि बढ़ आया, उसकी प्रलय-तरंगें भयंकर गर्जना कर रही थीं।

सूर्योदय के समय ग्राम्य-जन-स्त्री-पुरुष और बालकवृन्द—सभी गंगा में स्नान कर रहे थे। और नये अतिथियों का समूह गीले कपड़ों से राजपथ पर लौट रहा था।

सबसे आगे सिद्धाचार्य क्षपणक के शिष्य 'जय-जय जयंत' की घोषणा कर रहे थे। एक ओर का जन-समूह 'आचार्यदेव की जय' बोल रहा था, और दूसरे मनुष्यो का समूह विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ कर रहा था।

दूसरी ओर लगभग दस अश्वारोही सैनिक भीड़ को चीरने का विफल प्रयत्न कर रहे थे। पाटलिपुत्र की प्रजा, जिसकी कल्पना नहीं की जा सके ऐसी धृष्टता से इन राजसैनिकों को आगे बढ़ने से रोक रही थी।

सैनिकों के अतिरिक्त समस्त जन-समुदाय गंगा-स्नान करके लौट रहा था।

इस जन प्रवाह को सवेग बढ़ते देख आंभि और राक्षस अधिक वेग से आगे बढ़े; और राक्षस ने क्षपणक के शिष्यों को रुकने की आज्ञा दी। उत्तर में एक दूसरे के शरीर से सटकर उन्होंने तत्काल एक दुर्जय दुर्ग की रचना कर ली।

'क्यो यह क्या है?' राक्षस ने गम्भीर स्वर में पूछा। मगध की भाषा से बहुत परिचित न होने के कारण आंभि उग्रता से देखता रहा।

एक ऊँचे पूरे युवक ने बाबाओं के कन्धे पर से कुमार आंभि को देखा, और अपने बलिष्ठ हाथों से साधु बाबाओं को ठेलकर आगे आया और आंभि को प्रणामकर बोला, 'कुमार आंभि की जय!'

'कौन कद्रु?' आंभि ने उसे पहचानकर कहा, 'आचार्य देव कहाँ हैं? क्या हुआ?'

कद्रु के सुदृढ़ मुख पर एक विशाल हास्य छा गया, 'कुछ नहीं, यह तो मगध का आतिथ्य सत्कार है।' फिर साधुओं की ओर घूमकर कहा, 'हटो! हटो! कुमार आंभि आचार्यदेव से मिलने आये हैं। जगह दो।'

बाबा लोग हट गये और उनके दिये हुए मार्ग से पहले आचार्य विष्णुगुप्त और उनके पीछे प्रमंडक—इस प्रकार दोनों आगे आये।

जैसे और सब नहाकर गीले कपड़े पहिने आ रहे थे उसी प्रकार वह भी थे। आचार्य के मुख पर स्मित थी; उनकी शान्ति अभंग थी। उनकी मूर्त्त तटस्थता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा था। उनको आता देख आभि घोड़े पर से उतरकर सामने खड़ा हो गया; उसके साथी भी घोड़े से उतरकर आचार्य को प्रणाम करने लगे। राक्षस और उसके अनुयायी भी घोड़े पर से उतरकर चलने लगे। जो अश्वारोही इस भीड़ को भेदने का प्रयत्न कर रहे थे, वह राक्षस मन्त्री को देखकर उसके पास गये; उसको घोड़े पर से उतरता देख स्वयं भी उतर पड़े, भीड़ स्तब्ध थी।

'क्यो कुमार? इस समय आप कहाँ से?' आचार्य ने पूछा। 'मन्त्रीवर्य!' राक्षस की तरफ़ फिरकर, 'और आप भी?'

'हमें ख़बर मिली है,' आभि ने कहा, 'कि यहाँ कुछ उत्पात हुआ है, इसलिये हम आये हैं। क्या बात है?'

'कुछ नहीं।' राक्षस की ओर देखकर आचार्य ने कहा, 'आपका एक स्थानिक इस बेचारे ब्राह्मण के प्राण लेना चाहता था।' कह शौनक की तरफ़ संकेत किया।

शौनक का शरीर खून से सना हुआ था, उसकी आँख पर पट्टी बँधी हुई थी, और अचेत अवस्था में उसे बावाओं ने उठा रखा था। राक्षस ने पूछा, 'इसका नाम क्या है?' आचार्य ने कहा, 'पहचाना नहीं? इसका नाम शौनक है। आप मगध के ब्राह्मण बन्धुओं को किस प्रकार पहचान सकते हैं? मन्त्रीवर्य! अपने इस स्थानिक से पूछिये।'

जो सैनिक लोगों पर हमला कर रहे थे उनका सरदार शर्मिन्दा होकर पास में खड़ा था, उसके सिर की पगड़ी यथास्थान न थी, उसके शरीर पर कीचड़ लगी हुई थी, अपने हाथ पर उसने पट्टी बाँध रखी थी और रक्त की बूँदें उसके शरीर और वस्त्रों पर पड़ी हुई थीं। अपनी विकराल आँखों से द्वेष से भरा विष्णुगुप्त की ओर देख

रहा था। उसके मुख पर यह स्पष्ट अंकित था, 'आचार्य देव की जय!' बुलाते समय शौनक जैसे धृष्ट क्षुद्र जीव पर घोड़ा चढा देने में उसने ऐसा कौन-सा बड़ा अपराध किया है जो यह सब तूफ़ान उठ खड़ा हुआ?

'उग्रसेन!' कठोरता से राक्षस मन्त्री ने स्थानिक की ओर देखा।

'इसने,' उग्रसेन ने दाँत पीसकर मन्त्री को उत्तर दिया, 'मुझे कर्पण से बींध डाला। देखिये यह कर्पण!' कहकर उसने एक छोटा-सा तीर सामने रख दिया। यह तीर केवल दो बालिश्त का था। यह अस्त्र धनुष से नहीं फेंका जाता था, परन्तु अचूक और अनुभवी महारथी उसे हाथ से सैकड़ो हाथ दूर फेंक सकता था!

'तू क्या कर रहा था?' उग्रसेन के प्रति अविश्वास से उसने पूछा।

'पानी में खड़ा-खड़ा यह ब्राह्मण नहाते आदमियो को परेशान करता था। मैं कहने गया तो मेरा अपमान करने लगा।' वह अटका। 'फिर इसने मुझे भगवान अश्विनी के मन्दिर से कर्पण खींचकर मार दिया।'

'उग्रसेन!' कद्रु ने उसका घायल हाथ पकड़कर कहा।

'अरे बाप रे—' स्थानिक वेदना से चीख उठा।

'उनका नाम 'इसने' नहीं है, बल्कि आचार्य देव है! कद्रु ने उपहास करते हुए कहा।

'कद्रु!' कठोरता से आचार्य ने आँखों से संकेत किया। कद्रु स्थानिक का हाथ छोड़कर मौन खड़ा रहा।

राक्षस ने देखा कि इन सब के बीच में इस समय नरेन्द्र की सत्ता की विडम्बना हो रही है; और इस स्थानिक ने मूर्खता की थी, इतना ही नहीं वरन् वह झूठ भी बोल रहा था। उसने कठोरता से कहा, 'पागल हो गया है? अश्विनी के मन्दिर से मारा गया कर्पण तुझे सौ

धनुर्[1] की दूरी पर जाकर लगा और वह भी आचार्य ने मारा। झूठे, निकल जा यहाँ से !'

'मन्त्रीवर्य !' आचार्य ने कहा ! उनकी आँखों में व्यंग था 'मैंने ही कर्पण मारा था। इसके सिवाय शौनक को बचाने का दूसरा उपाय न था।'

'लेकिन सौ धनुर् से !' राक्षस ने आँखें फाड़कर आश्चर्य से देखकर पूछा। उसका हृदय काँप उठा। यह सामान्य ब्राह्मण—शरीर से सामान्य, केवल विद्वत्ता से विख्यात—इस तरह से कर्पण मारे ! मगध का सेनापति बड़ी मुश्किल से पौन सौ धनुर् कर्पण फेंके और यह सौ धनुर् ! आंभि और तक्षशिला के राजपुरुष हँस पड़े। राक्षस चौंका।

'मन्त्री !' आंभि ने हँसते हुए राक्षस के कन्धे पर हाथ रखा, 'घबराओ मत ! आवश्यकता पड़ने पर आचार्यदेव डेढ़ सौ धनुर् पर भी बींध सकते हैं।' तक्षशिला के समस्त नागरिक फिर हँस पड़े। साथ में क्षपणक के शिष्य और समीपवर्ती जनसमाज भी हँस पड़ा।

'मन्त्रीवर्य !' आचार्य ने गम्भीरता से कहा, 'यह सब बातें फिर होंगी। यह बतलाओ इस शौनक को कहाँ ले जायें ?'

राक्षस अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हुआ था। 'शौनक !'

'यह ब्राह्मणबन्धु,' आचार्य ने कहा, 'यहाँ कहीं आस-पास स्थान नहीं ? हम तो सिद्धाचार्य के स्थान पर ले जाना चाहते थे।'

'नहीं,' राक्षस ने कहा, 'मेरे साथ चलिये। यहाँ कुक्कुटाराम में एक भिक्षु चिकित्सक है। उग्रसेन ! जा अमात्यदेव को सूचना दे कि मैं आ रहा हूँ। महाराज !' उसने आंभि से कहा।

[1]—धनु = १०८ अंगुल–६¾ फुट। १०० धनु = ६७५ फुट।

'नहीं, मै भी आपके साथ आता हूँ। मुझे अश्विनीदेव के दर्शन करने हैं।' आंभि ने उत्तर दिया।

'आचार्यदेव!' विष्णुगुप्त ने शकटाल से कहा, 'आप प्रमंडक के साथ सिधारें। मैं शौनक को कहीं ठिकाने पहुँचा आऊँ, चलिये।'

आंभि, विष्णुगुप्त, राक्षस और शौनक को जिन साधुओं ने उठा रखा था वे और आंभि के रक्षक खड़े रहे। प्रमंडक शकटाल को हाथ थामे ले जाने लगा। दूसरे लोग वहीं खड़े रहे। नरेन्द्रदेव का अपमान करनेवाले को—शकटाल के साथ-साथ स्वतन्त्र विचरण करनेवाले को—कुमार और राक्षस की सेवा स्वीकार करनेवाले और डेढ़ सा धनुर कर्पण फेंकनेवाले को छोड़कर कौन जाय?

राक्षस ने लोगों की तरफ घूमकर कहा, 'जाओ, अब घर जाओ, कुछ काम-काज है या नहीं?'

'मगधवासियो!' आचार्य ने गम्भीर प्रशान्त स्वर में कहा, 'पधारो, आपका स्नेह मुझे यहाँ आने के लिए आकर्षित करेगा ही। फिर आऊँगा।'

राक्षस ने ज़रा शंकित होकर आचार्य की तरफ देखा। क्या इन शब्दों का कुछ और अर्थ था?

लोगों के मार्ग देने पर राक्षस आगे-आगे चलने लगा।

'कद्रु!' आचार्य ने हँसकर कहा, 'तू मेरे साथ चल, तेरे पास कर्पण हैं, समय पड़ने पर उनकी आवश्यकता भी पड़ सकती है।'

'सौ धनुर् कर्पण!' राक्षस से बोले बिना न रहा गया। आंभि खूब हँसा।

'मन्त्रीवर्य,' आचार्य ने हँसकर कहा, 'सौ धनुर् तो मेरा कद्रु फेंक लेता है। जाने दो इस बात को, नहीं तो आपको अपने नरेन्द्रदेव की सेवा का विस्मरण हो जायगा।'

राक्षस इस अनबूझे व्यक्ति की शान्त आँखों की ओर देखता रहा।

१६

आचार्य विष्णुगुप्त, राक्षस, आंभि और रुद्र अश्विन' के मन्दिर की तरफ़ चले। आंभि के अनुयायी अचेत शौनक को कंधे पर उठाकर चल रहे थे। अब क्या होता है यह देखने के लिये आतुर लोगों का झुंड पीछे-पीछे आ रहा था।

राक्षस जैसा महामात्र तक्षशिला के ब्राह्मण के साथ-साथ पैदल चले यह दृश्य लोगों के लिए जैसा अपरिचित था वैसा ही आकर्षक भी। कारण कि नन्द का आदरणीय मन्त्री अधमता का रसास्वादन करे इसमें सब को प्रसन्नता हो रही थी। उसी प्रकार आंभि का आकर्षक स्वरूप और उसके अनुयायियों के भव्य, विशाल शरीर देख लोगों का उनके प्रति स्वाभाविक आकर्षण भी हो रहा था। और जो ब्राह्मण नन्द का अपमानकर, उग्रसेन जैसे स्थानिक को घायलकर अपनी अद्भुत शक्ति से सब को प्रभावित कर रहा था उसके दर्शन के लिये लोग लालायित न हों यह कैसे हो सकता था!

राक्षस चुपचाप मार्ग-प्रदर्शन के लिये आगे-आगे चल रहा था। इस समय कुछ भी बोलना उसे रुचिकर प्रतीत न हुआ। अपने साथ स्वस्थ गति से बढ़ते आचार्य को देख वह स्वयं उनकी ओर आकर्षित हो रहा था। नन्द के दरबार में इतने बड़े होने पर और अपार राजसत्ता भोगने पर भी उसके हृदय में ऐसी शान्ति, शक्ति और बुद्धि के लिये अपार श्रद्धा उत्पन्न हो इतनी उदारता उसके हृदय में अभी शेष थी। लेकिन यह पूज्य भाव वह प्रगट नहीं होने देना चाहता था। सतत सेव्य राजनीतिकता उसे इसके प्रति सचेत रहने का आदेश कर रही थी। आचार्य के शान्त और उज्ज्वल नेत्रों में स्थित तेज कहीं उसके स्वामी की सत्ता को दग्ध न कर दे इसका उसे भय था। और किसी भी तरह यह ब्राह्मण तक्षशिला लौट जाय ऐसे सुअवसर का वह भी वक्रनास की ही तरह प्रतीक्षा कर रहा था।

विष्णुगुप्त से बात करने के लिये आंभि व्याकुल हो रहा था, लेकिन राक्षस के सामने क्या कहे और क्या न कहे यह उसकी समझ में नहीं आया इसलिये विष्णुगुप्त में ही श्रद्धा रखे वह चुपचाप आगे बढ़ रहा था। शान्त आचार्य स्वस्थता से राक्षस के साथ आगे बढ़े।

अश्विन का मन्दिर छोड़कर वे पाटलिपुत्र के दुर्ग की प्रचीर के पास चले जा रहे थे।

अन्त में आंभि से न रहा गया पूछा, 'यहाँ गौतम ऋषि का आश्रम है क्या?'

राक्षस हँसा। 'इस स्थान का नाम गौतम-निवास है, इस-लिए पूछ रहे हैं?'

'हाँ।'

'यहाँ पर गौतम ऋषि हो तो नहीं गये, लेकिन हम जिस भिक्षु के पास जा रहे हैं, उनके पंथ के महातपस्वी का नाम यही है। यह बात वह भिक्षु आपसे अत्यन्त सरलता से कहेगा।'

'मन्त्रीवर्य!' आचार्य विष्णुगुप्त ने राक्षस से पूछा, 'नन्दराज पाखण्डियों को पूजता है क्या?'

राक्षस इस प्रश्न में निहित कटु कटाक्ष को निगल गया और हँसा।

'यश के पास बराबर आते रहते हैं।'

'यश कौन है?' आचार्य ने पूछा।

'कामन्दक का पुत्र यश।' राक्षस ने उत्तर दिया, 'भिक्षुओं का अग्रगण्य है और भिक्षु शास्त्र और रोगचिकित्सा में अत्यन्त ही प्रवीण माना जाता है! इस समय वह कुक्कुटाराम में वास कर रहा है।'

'कुक्कुटाराम क्या है?'

'यह भिक्षुओं का तपोवन है। उनका वृद्ध स्थविर नारद, नरेन्द्र मुंड के राजत्व काल में यहाँ रहता था तभी से यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता है।'

अश्विन के मन्दिर से थोड़ी दूर नदी किनारे एक छोटा-सा तपोवन था, उसमें आठ-दस छोटी-छोटी झोंपडियाँ थीं। कई वृद्ध वृक्ष अपनी सघन छाया से इस स्थान को रमणीय बना रहे थे। पाटलिपुत्र जैसे औद्योगिक नगर के पास ऐसा सुन्दर और शान्त स्थल दिखाई दे इसमें कोई आश्चर्य न था।

एक झोंपडी के आगे एक वृद्ध पुरुष बैठा था। राक्षस ने कहा, 'यश यहाँ बैठे हैं।' राक्षस उत्सुकता से आगे बढ़ा। आंभि जिज्ञासा से इस वृद्ध पुरुष की तरफ देख रहा था। बड़ी-बडी तेजस्वी आँखें, केशविहीन स्वच्छ शीश, मोटे होंठ और पीले वस्त्र—इन समस्त वस्तुओं से सुशोभित कामंदक का पुत्र यश 'नमो तस्स भगवतो अरहतो समास्सम्बुद्धस्स' कह-कहकर सिर हिला रहा था। वह सज्जनता का अवतार-सा प्रतीत हुआ। आंभि उत्सुकता से और आचार्य बारीकी से उस वृद्ध पुरुष को देख रहे थे।

राक्षस ने उनसे शौनक की बात कही और आंभि के अनुयायी उसे उसके पास ले आये। यश ने तत्काल—इतने वृद्ध पुरुष में जिसकी आशा न की जा सकती थी ऐसे उत्साह से—शौनक का उपचार करना शुरू किया और थोड़ी देर बाद कुक्कुटाराम की इस छोटी-सी झोंपड़ी के आस-पास मनुष्यों का झुण्ड इकट्ठा हो गया। कितने ही लोग यहाँ ऐसे भिक्षुओं के स्थान में आते ज़रा हिचकते थे; लेकिन इस समय राक्षस आचार्य और आंभि की उपस्थिति उन्हें बल दे रही थी।

यश कभी अपना मन्त्र उच्चारण करता, कभी अपनी तान में मस्त हो शौनक को संबोधित करता, किसी समय हँसकर राक्षस से दो बातें कर लेता था।

'मन्त्री!' यश ने पूछा, 'यह सब कौन हैं?'

'यह तक्षशिला के राजकुमार महादेवी के भाई।' राक्षस ने बताया 'और यह उनके'—राक्षस ने कुछ हिचकते हुए कहा—'उनके आचार्य।'

आंभि को आश्चर्य हुआ। ऐसी अद्भुत बात सुनकर भी इस वृद्ध पुरुष ने सिर ऊँचा न किया और न देखा ही—लापरवाही से वह अपना पाठ पढ़ने लगा। इतने में उसके जैसे दो और भिक्षु वहाँ आ पहुँचे और शौनक के उपचार का कार्य अपने ऊपर ले लिया।

'हे भदंत यश!' राक्षस ने कहा, 'आंभि कुमार को इस स्थान का नाम गौतम-निवास कैसे पड़ा यह सुनने की इच्छा है।' यश की आँखे रसार्द्र हो गईं। उसने आंभि की ओर पहली बार ध्यान से देखा और विचित्र ढङ्ग से हँसा।

ज़रा कठोरता से, सदैव से कुछ अधिक गम्भीर होकर आचार्य इस वृद्ध पुरुष को तीक्ष्ण दृष्टि देख रहे थे। आचार्य की तीक्ष्ण दृष्टि की अवहेलना करते हुए, अपने रुंड-मुंड सिर पर हाथ फेरकर और हँसते हुए कहा, 'राजन्! गौतम-निवास परमधाम है। यह निर्वाण का द्वार है। यहाँ से भगवान् यथागत गंगा को लाँघ कर गये थे।'

'भगवान् तथागत!' आंभि ने आश्चर्य से पूछा।

'गौतम शाक्यमुनी। इन भिक्षुओं के संघ स्थापक।' शांति से बिना किसी प्रकार को अस्तव्यस्तता दिखाते हुए आचार्य ने कहा।

'भगवान् ने—संबुद्ध तथागत ने—शिष्यों में सर्वप्रिय आनन्द से कहा।' वृद्ध यश ने आचार्य की तरफ़ बिना देखे कहना शुरू किया। उसके स्वर में पूज्यभाव की आर्द्रता थी और आँखों में भक्ति की भव्यता। अनेक बार कही गई यह बात उनके मन, विनय और निकाय के समग्र पाठ से अधिक प्रिय लगती थी।

आंभि जरा हँसा, 'भदंत यश!' उसने पूछा, 'तथागत कौन?'

निःश्वास छोड़कर यश ने अपनी आँखे शून्य में विस्फारित-कर कहा, 'भगवान् बुद्ध! भगवान् तथागत। भगवान् विज्जाचरण सम्पन्नो लोकनाथो! राजन्! चक्रवर्तीपद सरलता से मिलता है, पर भगवान् सुगत की कथा सरलता से नहीं सुनी जा सकती।' आर्द्र कण्ठ से यश ने कहा, 'सुनिये! राजगृह से नालंदा की ओर आते

समय भगवान् तथागत ने अपने प्रिय शिष्य पूज्य आनन्द से कहा, 'चलो पाटलिकग्राम चलें। शिष्यों ने स्वीकार किया और यहाँ भगवान् आये, भगवान् ने दूसरे दिन सवेरे उठकर अति गौरवार्ह आनन्द से कहा, 'आनन्द' पाटलिकग्राम का नगर किसने बसाया है?' आयस्मा आनन्द ने उत्तर दिया, 'प्रभो! भगवान्! मगध के मंत्रीवर सुनीध और वस्सकार ने वज्जियों को रोकने के लिये पाटलिकग्राम नगर की स्थापना की है।' यह सुनकर भगवान् ने कहा, 'हे आनन्द! दिव्य दृष्टि से मैं देख रहा हूँ कि मनुष्यों से भी श्रेष्ठ ऐसे सहस्रों देवता पाटलिकग्राम में निवास करेंगे। हे आनन्द! जहाँ तक ये सुन्दर प्रासाद हैं, व्यापारी व्यापार करते हैं तब तक यह पाटलिपुत्र महानगर होगा और अनेक प्रकार की वस्तुओं का विनिमय यहाँ होगा' और भविष्यवाणी करते हुए धम्मराज ने कहा, 'हे आनन्द! पाटलिपुत्र को तीन प्रकार का भय है, अग्नि, जल और आन्तरिक कलह' यों कहकर भगवान् पश्चिम द्वार से सिधारे और इस स्थान से गंगा के उस पार गये।'

यश के नेत्र शून्य में विचरण कर रहे थे। उनमें से भक्ति का आलोक प्रसरित हो रहा था। उसके स्वर में आर्द्रता थी।

यश के शब्दों में उर्मि-भरे अन्तःस्थल की सजगता थी। उसकी आँखो के सामने जैसे उसके भगवान् के दर्शन हो रहे हो ऐसा लगता था। वह केवल बात ही नहीं कर रहा था, वरन् कल्पना से बारम्बार देखे हुए दृश्य को शाब्दिक रूप दे रहा था।

यश को भावुक आँखें सब को ओर घूम गईं और क्षण भर अपरिचित बनी इस सृष्टि को देखती रहीं। दो भिक्षु सहस्रों बार सुनी हुई इस बात को एकरसता से सुन रहे थे। राजनीतिज्ञ राक्षस धैर्य रखकर सब बातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा।

आंभि के मुख पर हास्य था। एक निर्जीव बात को यह निर्बोध वृद्ध कितना महत्व दे रहा था। आचार्य की कठोर गम्भीरता मे तिरस्कार

झलक रहा था। 'राक्षस!' आचार्य ने यश की ओर देखे और कहा, 'यदि यह लोग कार्य समाप्त कर चुके हों तो हम शौनक को ले जायँ।'

'जैसी आज्ञा।' राक्षस बोला और अनुचरों से शौनक को उठा लेने के लिए कहा।

यश आचार्य की ओर आँखें फाड़कर देखता रहा। भिक्षुओं में वह अग्रगण्य था; उसके शब्दों को सब पूज्यभाव से श्रवण करते थे, धननंद स्वयं कभी-कभी उनके पास आता था और आज यह परदेशी उसका स्पष्ट तिरस्कार कर रहा है! उसके आत्मसम्मान को आघात पहुँचा।

'आप ब्राह्मण कहलाते हैं?' उसने जरा क्षुब्ध हो आचार्य से कहा, 'तो सुनते जाओ—निर्वाण मंत्र' और गम्भीर स्वर में उसने कहना शुरू किया :

'ब्राह्मणों में से उत्पन्न हुए ब्राह्मण को मैं ब्राह्मण नहीं मानता। अगर वह धनाढ्य होगा तो लोग उसे 'भो!' कहकर बुलायेंगे, और जो अकिंचन हो, फलकामना विहीन हो, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ। सर्व संयोजनों को भेदकर जिसे क्षोभ नहीं होता, जो आसक्ति से परे है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। जिसने इस चर्म बैर को, तृष्णा को और दृष्टि को तथा अविद्या को क्रमानुसार भेद दिया है ऐसे बुद्ध को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।'

आचार्य के मुख पर हास्य था; लेकिन उनके तेजस्वी नेत्रों के शांत और एकाग्र तेज को देखकर यश अपनी अन्तिम पंक्तियों को स्पष्टतया न कह सका।

आसपास खड़े हुए लोग प्रिय लगनेवाले आचार्य को इस प्रकार से सम्बोधित करते देखकर उनका क्रोध भिक्षु पर तीव्र हो गया।

क्षण भर शान्ति रही।

'कामंदक के पुत्र यश!' उनके कंठ-स्वर में तक्षशिला के विश्व-विख्यात विद्यापीठ में शिष्य-समुदाय को शास्त्रज्ञान देनेवाले प्रतापी आचार्य की सत्ताशील शान्ति थी। 'मै यहाँ विवाद करने आया नहीं हूँ; परन्तु ज्ञात न हो तो सुन ले :

'स्वधर्म मे अव्यभिचारी, आर्यों की मर्यादा में व्यवस्थित, वर्णाश्रम स्थित, चारों विद्याओ में पारांगत ऐसा ब्राह्मण नाश को प्राप्त नहीं होता।

'स्त्री, पुत्र, घरबार छोडकर, उनके पोषण की व्यवस्था किये बिना जो परिव्राजक होता है, जो स्त्रियों को परिव्राजिका बनाता है, यश! वह दंड का अधिकारी होता है, इतना ही नहीं उसको ग्राम में आने देनेवाला राजा स्वधर्म से विचलित होता है।'

लोग हँस पड़े। आचार्य आभि के साथ जाने लगे। यश घूरता रहा।

'कामंदक के पुत्र यश!' राक्षस ने मीठे स्वर में बात बदली, 'आप वैशाली कब जानेवाले हैं?'

क्षण भर यश कुछ न बोल सका, 'मैं भिक्षुओं के साथ परसों जाऊँगा।' उसने सिर पर हाथ फेरते हुए उत्तर दिया।

जाते-जाते आचार्य यश की ओर मुड़े। उनके नेत्रों में उपहास था, 'विनय-विवाद कब पूरा करोगे? दश[1] वस्तुओं का निर्णय हुआ कि नहीं?'

---

[1]—इस समय बौद्ध भिक्षुओं में दो दल हो गये थे। विवाद का विषय दस प्रश्न—'दस वत्थुनि' था। यश एक पक्ष का नेता था और कुछ वर्ष पहले इस विषय का निर्णय करने के लिए—बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष बाद—वैशाली में भिक्षुओं की एक सभा हुई थी, उस समय यश उसका अध्यक्ष था। इस सभा के पश्चात् ही स्थविरवादी और महासंघिक ऐसे दो पक्षों की उत्पत्ति हुई।

'कहाँ से हो?' यह दस वस्तु ही यश की व्यग्रता का प्रथम विषय था, 'आजकल सभी चतुर हो बैठे हो।'

'फिर भी वैशाली जाना चाहते हो।'

'हाँ, क्या किया जाय? कुछ भी निर्णय तो करना ही है। लेकिन आपने कैसे जाना?'

आचार्य हँसे। 'गौतम-निवास से होकर जायँगे?'

"हाँ।'

"अच्छा चलें अब।' कहकर आचार्य चल पड़े।

२०

सवेरा होने पर भी गौरी की व्यग्रता का पार न था। उदयमान जीवन का उत्साह आज उसमें ठंडा पड गया था। सेनाजित के प्रति उसमें प्रेम था, लेकिन फिर भी उसे उसके साथ विश्वासघात करने की इच्छा हो रही थी। पिता के प्रति उसका अपार स्नेह था और उनको दुखी करने की उसे लेशमात्र भी इच्छा न थी। विष्णुगुप्त के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ रही थी, लेकिन वह उससे निकल भागना चाहती थी। साथ ही वह सेनाजित से व्याह करना और अपने पिता को भी प्रसन्न रखना तथा आचार्य के महान् कार्य में हाथ बँटाना भी चाहती थी—तीनों को सुखी करना चाहती थी। उसके मन तो मानो दक्ष-यज्ञ के समय पार्वतीजी सुमन-शैया पर पड़ी हों।

शकटाल के पदभ्रष्ट होने पर वह एक निर्बोध बालिका थी; इसलिये उस घटना का उसके हृदय पर कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था और हमेशा से नंद के राज्य में ही रहने के कारण, उसको पाटलिपुत्र का वातावरण भी स्वाभाविक लगता था। गत रात्रि को उसने विष्णुगुप्त

के नवीन आचार-विचार का अनुभव किया। राजनीति में भयंकर दोष थे। उसके पिता की यह अधम दशा नंद और वक्रनास की दुष्टता का परिणाम थी। ब्राह्मणपद में संस्कारिता में, विद्वत्ता में, धन और राजपद से भी दुष्प्राप्य श्रेष्ठता थी। शकटाल और विष्णुगुप्त ने कुछ महान् संकल्प किये थे। इन सब नवीन विचारों के अस्पष्ट आलोक में वह अंधी बन गई थी, फिर भी केवल एक वस्तु उसके मस्तिष्क में घूम रही थी। यदि वह इस कार्य मे सहायक न होगी तो उसे धर्मद्रोह का कलंक लगेगा।

इन शब्दों की गम्भीर गर्जना उसके कानों में ही गूँज रही थी :

'सत्य विद्या की स्थापना के बिना उद्धार नहीं !.........' सत्य विद्या ! इस विद्या में सेनाजित का कोई स्थान न था। 'उनके द्वारा कलि का निवारण होगा।' किसके द्वारा ? आचार्य के द्वारा ! ऐसा क्या करने वाले हैं जिससे कलि अस्त होगा ? और उसमें उसका कौन सा स्थान होगा और उसके पिता का कौन सा ? सेनाजित का कौन-सा ?......लेकिन उसका स्थान था 'महर्षि के चरण-सेवन करनेवाली, ऋषि-पत्नी की स्पर्धा करनेवाली।' अनुसूया, अरुंधती, लोपामुद्रा आदि ऋषि-पत्नियो की वह स्वयं प्रतिस्पर्धी ! उसका हृदय उछलने लगा। उसके हृदय की धडकन किसी प्रकार भी शांत न हो सकी।

लेकिन सेनाजित ! वर्षों से उसके मधुर शब्दों पर जीवित प्रणयी ! उसका क्या होगा ? 'हे अश्विन ! मैं क्या करूँ ? किससे पूछूँ ?'

किससे पूछूँ ? यह प्रश्न उसे बहुत पीड़ाजनक लगा। उसकी कोई सहचरी न थी, उसके पिता से कोई सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकता था, उसका कोई सम्बन्धी न था। अरे हाँ ! उसके सगे भाई थे—लेकिन वह भी प्रेतलोक निवासियों की तरह दुष्प्राप्य थे। मन्त्रीपद हाथ से खो बैठने पर भी राजसेवा में उत्सुक उसका एक भाई श्रीयक वक्रनास को प्रसन्न कर, शूद्रा से विवाह करके दक्षिणापथ के अंतःपाल का पद भोग रहा था। वह पाटलिपुत्र आने का साहस न

करता था और न अपने पिता से किसी भी प्रकार का व्यवहार रखता था। जीवित पिता का उसने कई वर्षों पहले स्नान कर लिया था।

स्थूलभद्र—बड़ा भाई पाटलिपुत्र में था, लेकिन आज बारह-बारह वर्ष बीत गए उसने अपने बाप और बहिन को मुँह न दिखाया था। वह कुलांगार था। उसने इक्कत्तर पीढ़ी का नाम डुबाया था। सारा संसार उसे सृष्टि का कलंक समझता था। वह किस काम का ?

लेकिन गारी का एकाकी हृदय अपने भाई के लिये तरस रहा था। चाहे जैसा हो, लेकिन है तो उसकी माता लक्ष्मीवती की कोख से पैदा सगा भाई ! अपनी एकमात्र बहिन को भी वह कोई मार्ग न दिखायेगा ?

लेकिन वह भाई मिलेगा कहाँ ? लोग उसकी कार्य-प्रणाली का विविध रंगों और रूपों में वर्णन करते हैं। कोशा नामक गणिका के यहाँ वह पड़ा रहता है, उसके साथ स्वच्छन्द, आचार-विचार का त्यागकर, विचरण करता है; घंटों तक मधुशाला में सुरामत्त बन-कर रोज का कलह खड़ा करता है। उससे कहाँ मिलूँ ? किस तरह से मिलूँ ?

कोशा का भवन नदी जानेवाले मार्ग पर पड़ता था। वहाँ से आती गीत, वाद्य और नृत्य की मधुर ध्वनि उसने अनेक बार सुनी थी।

अन्दर जाकर भाई के दर्शन करने को कई बार आतुर हुई थी, लेकिन वेश्या के घर किस प्रकार जाया जाय ?

आज उसमें भाई से मिलने की उत्कंठा बढ़ती ही जाती थी। शिष्टाचार के, सावधानी के, पिता की प्रतिष्ठा के अनेकों सूत्र उसने अपने को सुनाये। लेकिन भाई से मिलकर हृदय शान्त करने की बल-वती उत्कंठा बढ़ती ही गई। चाहे जैसा हो, आखिर भाई है। क्या उसकी न सुनेगा ? उसको कुछ शिक्षा न देगा ? उसको कोई मार्ग न बतायेगा ?

'भाई! भाई! तुमसे किस प्रकार मिलूँ!' उसका रोम रोम प्रतिध्वनित हो रहा था। सब उसके साथ अन्याय कर रहे हैं। क्यों उसे कुलांगार समझते हैं! वेश्याओं के यहाँ क्या राजा लोग नहीं जाते! मन्त्री नहीं जाते! और कोशा कैसी होगी! सारा गाँव उसकी चर्चा करता है। उसने उसके भाई को मोहित किया है, वह क्या करे!

जैसे-जैसे वह विचारमग्न होती गई वैसे वैसे उसे स्थूलभद्र के अतिरिक्त कोई भला ही न दीखने लगा। भाई उसका प्यारा भाई—उसको आकर्षित कर रहा था।

मध्यान्ह में अपने पिता और अतिथियों को भोजन कराकर वह पानी भरने गई। इस समय मार्ग पर बहुत कम लोग नहाकर आते हुए मिलते थे। वह कोशा के घर के सामने आई, लेकिन पैर जड़ हो गये, बढ न सके।

कोशा पाटलिपुत्र की सुविख्यात नागरिक थी। उसके द्वार पर एक हाथी झूमता था, और लोग आते-जाते रहते थे। वहाँ वह कैसे जाय—एक वेश्या के यहाँ! स्वयं—गौरी—वह शकटाल की आत्मजा—महर्षियों के चरण-सेवन करनेवाली, ऋषि-पत्नियों की स्पर्धा करनेवाली! वह सवेग वहाँ से चल पडी।

ज्यों-ज्यों वह कोशा के घर से दूर होती जाती थी त्यों-त्यों उसमें वहाँ जाने की उत्कंठा और बढ़ रही थी। वह पानी भरकर लौटी। इस घर को फिर देखकर वह काँप उठी। यहाँ वह अपने मन पर अनुशासन न रख सकी।

मध्याह्न की धूप के कारण राजपथ निर्जन था। उसके साथ कोई न था। क्यों न भाई से दो मिनट के लिए मिल आऊँ! भाई! उसका भाई!

वह वेश्या के घर के द्वार पर आकर रुक गई; कुछ आगे बढ़ी, फिर कुछ पीछे हटी। घर के सामने इस समय कोई न था, कपाट खुले हुए थे, अन्दर से मृदंग की ध्वनि आ रही थी। कोशा—वेश्या—के घर

जाय वह ? किस लिये ? भाई बाहर आयेंगे, फिर अन्दर जाने की क्या आवश्यकता है ?

दरवाज़े के पास जाने का उसे साहस न हो सका। वह पास वाली गली में घुस गई। पीछे के द्वार को ढूँढ़ने का निश्चय किया। वहाँ एक चबूतरे पर एक वृद्धा बर्तन माँज रही थी।

गौरी खड़ी रही, लौटी और फिर खड़ी हो गई।

वृद्धा ने पूछा, 'तुम्हें किससे काम है बहिन ?'

'स्थूलभद्र से।'

'स्थूलभद्र ?' हँसकर वृद्धा ने पूछा, 'तू कौन है ?'

कठिन प्रयास के बाद गौरी बोली, 'मैं उसकी बहिन हूँ।'

'शकटाल की लड़की !' आश्चर्य से वृद्धा ने कहा, 'क्या काम है ?'

'मुझे भाई से मिलना है।' कम्पित स्वर से गौरी ने कहा।

'कौन है यह ?' अन्दर से किसी की आवाज़ आई। गौरी की घबराहट का पार न था।

'यह तो शकटाल मन्त्री की पुत्री आई है' वृद्धा ने कहा। एक दूसरी स्त्री आई। वह युवती और रूपवती थी। उसने गौरी को अन्दर आने के लिये कहा, 'स्थूलभद्र से मिलना है ? आओ, मैं ले चलूँ।' अन्दर जाना या न जाना इस प्रश्न का निराकरण करने से पहले उसके पैरों ने निश्चय किया। गौरी बाहर गागर रखकर घर में गई। वह स्त्री उसे ऊपर ले गई।

गौरी में घर की समृद्धि की भी सामर्थ्य न थी। चेतना लौटने पर एक सुसज्जित खंड में एक रूपसी स्त्री के समक्ष खड़ी थी।

इस स्त्री के नेत्र में लास्य और मादकता थी। उसके बिखरे हुए मुरझाये हुए कितने ही पारिजात के फूल अभी तक उलझे हुए थे। गौरी स्तब्ध खड़ी देखती रही।

'देवी ! शकटाल की पुत्री आई है।'

'कौन गौरी ?' वह स्त्री आश्चर्यचकित हो सामने आई। उसका यह आश्चर्य क्षणभर में विलीन हो गया। उसने गौरी को देखा और हँसकर उसकी अभ्यर्थना की, 'आओ बहिन, बैठो !'

गौरी को लगा कि यह स्त्री कोशा के सिवाय और कोई नहीं है।

कोशा प्रतापी मगध पर अपना प्रभाव जमानेवाली स्त्री थी।

आठ वर्ष की अवस्था से उसने घननन्द के अग्रज नन्द के सामने नाचना और गाना शुरू किया था। कितने ही वर्षों तक छत्र, स्वर्ण कुम्भ, और पंखा लिये नन्द के रथ और सिंहासन को सुशोभित किया था। बड़ी होने पर वह नन्द की राजगणिका बनी। घननन्द के सिंहासनासीन होते ही वह राज-सेवा से मुक्त हुई; फिर भी नरेन्द्र से लेकर नगर के अधिकारी और संभ्रान्त व्यक्ति उससे परिचय प्राप्त करने में अपना महत्त्व समझते थे।

साहस लौटने पर गौरी इस रूपजीवी स्त्री को देखती रही। उसके आकर्षण की सीमा न थी। उसके लम्बे सुरेख नयन, भरे हुए गाल, ऊँची गर्दन, लम्बे, गोल, सुघड़ हाथ, लम्बा शरीर यह सब उसके विलासोत्सुक स्वभाव के स्पष्ट सूचक थे। लेकिन उसके मुख पर सम्भ्रान्तता थी, उसकी आँखों में स्नेह था, उसके आचार-व्यवहार संस्कारपूर्ण थे।

उसने गौरी की बात को स्नेह से सुना और मृदुल और मीठे स्वर में कहा, 'तुम्हें अपने भाई से मिलना है ? लेकिन वह अभी उठे न होंगे।'

'उठे न होंगे !'

'हाँ !' हँसकर कोशा ने कहा, 'हमारे यहाँ ज़रा देर में उठते हैं। मैं अभी ही उठी हूँ।'

मध्याह्न के बाद सोकर उठनेवाली इस स्त्री को देखकर गौरी सिहर उठी।

'मेरे साथ चलो, उनको उठायें।' कह गौरी को अपने साथ ले गई। इतना आगे आने पर फिर पीछे कैसे लौटा जाय, इसका विचार करने से पहले कोशा उसे नीचे से होकर एक पास वाले मकान में ले गई।

समीपवर्ती मकान का द्वार मधुशाला में पड़ता था। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त दूसरों से सुरापानागार के बाहर नहीं मिलती थी; अतएव कोशा के घर से दूकान में आने का एक गुप्त-मार्ग था। इस दूकान के एक खण्ड में वह आई। समृद्धशालियों की स्वच्छंदता से अपरिचित गौरी कहाँ आई है इसका उसे भान न था।

एक अँधेरे खंड में दो बिस्तर और तीन आसन पड़े थे। चारों ओर गंध और पुष्प-परिमल की सुवास प्रसरित थी। पृथ्वी पर अनेक प्रकार की सुरा के रिक्त-पात्र पड़े थे। जिस द्वार से वह आई थी उसके अतिरिक्त सब बन्द थे। गौरी दरवाज़े में घुसने से हिचकी। इसके पहले ही कोशा ने अन्दर जाकर एक खिड़की खोल दी।

एक बिछौने पर, चाहे जब से, पर गौरी के सहोदर जैसा, एक पुरुष खर्राटे भरता हुआ सो रहा था। वह पुरुषों में असाधारण रूपवान था, उसके सुवासित लम्बे केश बिछौने पर से लटक रहे थे, उसके मुँदे हुए नेत्रों के आस-पास काले दाग अति जागरण और विलासिता की साक्षी दे रहे थे, फिर भी वह आकर्षक थे। उसके अधरों पर विषय-लालसा की स्पष्ट छाप थी। मदमत्त अवस्था में चारों तरफ़ बिखरे पुष्पों के बीच वह मानो रण में विजयी योद्धा की तरह सुखनिद्रा ले रहा हो।

गौरी ने अपने भाई को पहचाना, लेकिन फिर भी ऐसे विषयी व्यक्ति के पास जाते उसे कुछ हिचकिचाहट हुई। कोशा उत्साहित स्नेह से उसके पास गई और ललाट पर हाथ फेरने लगी।

'भद्रदेव! उठो!' कोशा ने कहा। यह वेश्या चाहे जैसी क्यों

हो लेकिन उसके भाई से वह स्नेह करती थी यह बात गौरी को सर्वथा निःसंशय लगी।

निन्द्रा में स्थूलभद्र ने करवट बदली और हमेशा की तरह अपने हाथों में कोशा का हाथ लपेट लिया। गौरी ने लज्जा से दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

'देव ! उठो गौरी आई है। उठो ! गौरी, आपकी बहिन !' कोशा ने कहा और स्थूलभद्र को हिलाया।

'उँह।' कहकर उसने कोशा का हाथ दूर हटा दिया।

'उठो देव ! गौरी मिलने आई है।'

स्थूलभद्र एकदम उठ बैठा और क्रोध से कोशा को दूर ढकेल दिया। उसकी आँखें जागने के कारण लाल हो रही थी और खिडकी में से आते उजाले से चौंधिया रही थीं। उसके मुख पर निन्द्राभंग और सुरा दोनो का समन्वित क्रोध था। दाँत पीसकर वह बोला, 'क्या है ? सोने भी नहीं देती !'

कोशा ने स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। निर्दयता से स्थूलभद्र ने उसे दूर हटाकर कहा, 'जा यहाँ से। क्यों आई है ? सोने तो दे !' खीजकर उसने कोशा को धक्का देकर दूर ढकेल दिया।

नीची दृष्टि से देखती हुई गौरी पर भी उसकी दृष्टि पडी। पहले तो उसे स्वप्न-सा लगा। वह आँखे फाड-फाड़कर देखता रहा, फिर अपने बाल पकड़कर खींचे, आँख पर हाथ फेरा।

'गौरी ! गौरी !' शुष्क स्वर में स्थूलभद्र ने कहा, 'तू कहाँ से ? पिताजी मरघट पहुँच गये क्या ?' उसने घूरते हुए कहा। वह अपनी शक्ति सतेज करने का प्रयास कर रहा था।

'नहीं, वह तो सिर्फ मिलने आई है' कोशा ने कहा। स्थूलभद्र ऊब गया था, 'अरे ज़रा चुप रह न !' कोशा ज़रा हँसकर चुप हो गई। अभी-अभी स्थूलभद्र चिढ़ गया था।

गौरी को भाग जाने का मन हुआ। इस आदमी से क्या कहना और क्या पूछना ? उसका जीवन एक निरन्तर व्याप्त वासना का उत्साह था। सेनाजित, विष्णुगुप्त, राजनीति, ऋषि-पत्नियों की स्पर्धा, इन सब की इसे क्या परवाह ? इन्हें समझाने की बुद्धि इसमें कहाँ है, इसकी सलाह किस काम की ?'

'तुझे यहाँ कौन लाया ?'

'कोशा !' गौरी ने गुनगुनाते हुए अस्पष्ट स्वर में कहा।

'कोशा !' उसकी तरफ़ फिरकर स्थूलभद्र ने कहा, 'तुझसे यह किये बिना भी न रहा गया ?' उसने कोशा की तरफ़ घृणा-मिश्रित रोष से देखा। कोशा ने स्नेहभरी सहिष्णुता दिखाई, 'छोकरी ! किस लिये यहाँ आई है ? तेरा यहाँ—यहाँ—' उसने तिरस्कार से चारों ओर बिखरी पड़ी सामग्री को दिखाते हुए कहा, 'क्या काम है ?'

गौरी का हृदय भर आया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। हिचकी भरते हुए उसने कहा, 'भाई ! मैंने भूल की, मैं जाती हूँ !'

'जा मुझे किसी का मुँह अच्छा नहीं लगता।'

गौरी ज़ोर से रो पड़ी। यह आर्त क्रन्दन सुन स्थूलभद्रएकदम उठकर खड़ा हो गया और उसके पास आया।

'गौरी ! गौरी ! चली जा।' वह आत्म-तिरस्कार से बोला, 'मेरा मुँह तेरे देखने लायक नहीं है।'

रोती-रोती भयभीत गौरी वहाँ से चली गई। कोशा स्थूलभद्र के समीप आई।

'भद्रदेव ! नाथ ! इस तरह अकारण क्यों व्यग्र हो रहे हो ? स्नान करो, फिर मधु पीकर जैसा स्वस्थ हो जाओ।'

'मुझे स्वस्थ नहीं होना।' उसने कोशा पर गुस्सा उतारा।

'मेरा दिन ही ख़राब उगा है।' वह बाहर जाने लगा। 'कहाँ जाते हो ?' कोशा ने पूछा, 'स्नान तो करो, जाते कहाँ हो ?'

'यम के घर !' कह कोशा को झटककर स्थूलभद्र चला गया।

कोशा ने निःश्वास छोड़ी। इन दिनों स्थूलभद्र अधिक अस्वस्थ रहता था।

२१

स्थूलभद्र सवेग घर से बाहर निकला और धूप की परवाह न कर दुर्ग के दरवाजे की तरफ गया।

अभी उसके मस्तिष्क से खुमारी नहीं उतरी थी। उसे समस्त सृष्टि स्वप्नवत् लगी। निद्राभंग होने से उसे कुछ ऐसा भ्रम हो गया जैसे सारी दुनिया उस पर टूट पड़ी हो। जिस संसार में मनुष्य जी भर-कर सो भी न सके वह संसार दुःखमय नहीं तो और क्या है?

चार वर्ष से वह कोशा के यहाँ रह रहा था, और अहर्निश विषय-तृप्ति में ही फँसा रहता था। कोशा के लिये उसने अपने पिता, अपनी प्रतिष्ठा और जाति को ठुकरा दिया था, सगे सम्बन्धियों को भूल गया था। लेकिन उसकी छोटी वहिन गौरी उसके अन्तस्थल में केवल एक पवित्रता और निर्दोषता की प्रतिमा थी। उस मूर्ति को ऐसे पानागार में ले आई कोशा, इससे उसके क्रोध का पारावार न था। कोशा ने उसकी वहिन की पवित्र प्रतिमा को भ्रष्ट किया। कितना दुःसह!

इतने वर्षों से उसके हृदय में लज्जा का संचार न हुआ था। प्रत्येक वस्तु का अभिमान से तिरस्कार करने में ही उसे आनन्द आता था। सद्गुणों का उपहास करते-करते वह बेहया हो गया था। आज उसने गौरी को देखा। गौरी के आगमन से पवित्रता, स्नेह और भावुकता का समीर बहने लगा। इतने वर्षों बाद आज एकाएक उसने अलक्षित वस्तु को देखा था।

गौरी की सूक्ष्मता और अपनी स्थूलता के बीच का अन्तर उसे असह्य लगा। अपनी दशा पर लज्जा आने लगी। पवित्रता और निर्दोषता की नम्र प्रतिमा के दर्शनकर उसको अपनी अधोगति का

आभास हुआ। उसकी आत्मा काँप उठी, गौरी और वह दोनों एक ही माँ से उत्पन्न थे, फिर भी कहाँ गौरी और कहाँ वह!

गौरी को देखते ही उसे अपने पिता का स्मरण हो आया। पिता की याद के साथ-साथ कुटुम्ब की कीर्ति—चाहे जिस प्रकार आच्छादित हो पर उस अपूर्व कीर्ति का ध्यान हो आया।

बाल्हिकाचार्य—गुरुओं के भी गुरु, वृद्ध, तेजस्वी, मगध का एकचक्र शासक ब्राह्मण का उसे स्मरण हुआ। प्रौढ प्रताप से समस्त अवनी को कम्पित करने वाली अपने पिता की भव्य मूर्ति उसकी आँखों के सामने फिरने लगी।

नंद राजा की द्वेषाग्नि में दी हुई भाई-बहिन की आहुति का स्मरणकर उसे गर्व हुआ। निर्धनता, दृष्टिहीनता, नरेन्द्र का द्वेष और पुरवासियों के तिरस्कार में भी भयंकर गौरवशील वृद्ध शकटाल उसकी दृष्टि के सम्मुख आये। ऐसे प्रतापी कुल का अवशेष—एक निर्माल्य—था उसका भाई श्रीयक, जिसने कीर्तिमय मृत्यु को पसन्द न कर अपकीर्तिकर जीवन को अंगीकार किया, और दूसरा वह जो सब कुछ विस्मरण कर सुरापान और कोशा के प्रणयालिंगन में रात-दिन रत रहता है। उसका आत्म-तिरस्कार बढ़ने लगा।

इस तिरस्कार से वह हँसा। महत्ता, कीर्ति, भव्यता—यह किसके लिए हैं और किसके लिए नहीं? उसमें क्या तथ्य है? कहाँ वह अमात्य श्रेष्ठ शकटाल और कहाँ आज का अन्धा, क्षुद्र, भिखारी शकटाल? कहाँ बाल्हिकाचार्य और कहाँ वह स्वयं उनका वंशज? सब पैदा हुए और मर गये। खाली हाथ आये थे, खाली हाथ चले गये। वह स्वयं सुरापान में बेसुध रहता है, और दूसरे कीर्ति का—आत्म-प्रवञ्चना का—सुरापान करते थे। अन्त में रास्ता सब का एक ही है। वह कटुता से हँसा। सब व्यर्थ! सब धोखा! परिश्रम करे या न करें; कीर्ति मिले या न मिले, महत्ता प्राप्त हो या नहीं; आखिर

जन्म से मरण तक एक झंझटमय प्रयाण के अतिरिक्त उसे और कुछ न दीखा।

वह थका हुआ, निस्तेज और क्रोधित था। अभी निद्राभंग की महाव्यथा से वह न छूटा था। उसकी चिन्ताग्रस्त दृष्टि को समस्त जीवन की दिनचर्या निरर्थक दीख पड़ी। लेकिन इस समय की उसकी विराग-भावना का मूल अत्यन्त ही गहन था। प्रथम मूल कारण उसकी शक्ति का शैथिल्य था। रात-दिन भोग-विलास की छाया में जीवन यापन करने से उसका शरीर निर्बल हो गया था, और उसकी मानसिक अवस्था सदैव अस्वस्थ और डाँवाडोल रहती थी। दिन भर सुरा-सेवन करने से उसमें केवल कृत्रिम उत्साह रह गया था- और वास्तविक बल का ह्रास हो चला था। शरीर और मन दोनों पिछड़ गये थे। इस समय सुरा की खुमारी से लगा, निद्राभंग से संतापित, और गौरी को देखकर अधमता अनुभव करनेवाला शरीर और मन दोनों दायित्व छोड़कर निःसत्व दशा में पड़े थे। जीवन-क्रम भार-स्वरूप लग रहा था, उसके नीचे पिस जाने का उसने संकल्प-सा कर लिया था।

इसमें भी एक बड़ा—वास्तव में सबसे बड़ा—कारण कोशा थी।

कोशा, दुनिया में जैसे बहुत सी रूपवती स्त्रियाँ होती हैं उसी प्रकार सदैव-विलास-तृषित प्रतिमा थी। वह रसिकता के धनुष पर स्थायी भोगांक्षा के तीर जैसी स्थिर, एकाग्र और तत्पर थी। जब वह गाती उस समय समस्त सृष्टि प्रतिध्वनि हो उठती थी। वह तूलिका उठाती, तो समस्त भाव साकार हो जाते थे। वह नृत्य करती, तो दसों दिशायें नाच उठती थीं। वह हँसती या कल्लोल करती, तो लालसा चारों ओर से मर्यादा छोड़ उमड़ पड़ती थी। उसके नेत्रों का कटाक्ष हृदय को विचलित कर देता, उसके आलिंगन मे स्वर्गसम स्पर्श था।

बारह वर्ष तक दिन-रात इस सदैव तत्पर बाण को उसने सहा था और सत्कार से सदैव संचित इस जीवनचर्या मे उसे क्षण भर भी स्वतंत्र विचार करने का समय न मिला था। थोड़े दिनों से उसकी

शक्ति क्षीण हो चली थी और पहले जैसा सत्कार अब आधा हो गया था।

लेकिन कोशा को तृप्ति न थी। किसी को अतृप्ति भी हो सकती है इसका उसे ध्यान न था!

स्थूलभद्र अतृप्ति की दुःसहता का अनुभव करता था।

वह सवेग नगर से बाहर निकला और क्षोभ में आगे बढ़ता ही गया।

दिन ढल गया था। पीछे लौटने के बदले वह आगे ही बढ़ता गया। सिर में पीड़ा हो रही थी, पैर शिथिल हो गये थे; आत्मा और अधिक दुःख सहने में असमर्थ थी। सब० यर्थ लगता था। सूर्य, व्योम, पृथ्वी, वृक्ष इन सब की ओर वह निस्सारता से देख रहा था। सब भार-रूप था।......

एक रुण्ड-मुण्ड साधु और उसके दो शिष्य एक गली की ओर बढ़ रहे थे। स्थूलभद्र ने तिरस्कार से उनके सामने देखा। ऐसे आदमी शान्ति से कैसे विचरण करते होंगे? क्या दुनिया में दुःख की कमी है? फिर इस तरह भ्रमण करने का दुःख भोगने से क्या लाभ?

तीनों आदमियों के हाथ में रजोहरण थे। स्थूलभद्र विचित्रता से उनकी ओर देख रहा था।

स्थूलभद्र ने पहले साधू की ओर देखा। उसे वह सबल और निरोगी लगा। उसने तेजस्वी और शान्त मुख देखा, ज्ञान और करुणापूर्ण आँखें देखीं और समभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए व्यक्तित्व के दर्शन किये।

स्थूलभद्र की भ्रमित दृष्टि में नवीन तेज प्रस्फुटित हुआ। अतितृप्ति के कारण उसको संसार से विराग हो गया था। यह संसार इस मनुष्य का स्पर्श न कर सका था, ऐसा भास हुआ। इर्यासमिति में लीन साधु को देखने पर उसने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

'वत्स ! धर्मलाभ हो !' साधु ने कहा !

'आप कहाँ जा रहे हैं ?'

'इस गाँव में रात को निवास करने के लिये । हे वत्स, तू कौन है ? ऐसे मलीन वस्त्र और मुरझाये पुष्प-माल पहनकर कहाँ फिर रहा है ? यहाँ से नगर तो बहुत दूर है ।'

'मुझे कहीं भी नहीं जाना ।'

'तब क्या करेगा ?' साधु ने कहा ।

'मुझे कुछ भी नहीं करना ।'

'तब हे वत्स !' साधु ने कहा, 'जिनागम-रूपी सुधापान क्यों नहीं करता कि जिससे विषय-जन्य क्षणिक सुख का त्याग कर तू महानन्द प्राप्त करे ?'

स्थूलभद्र देखता रहा । उसको ऐसी ही प्रभावशाली सुधा की आवश्यकता थी । कोशा और उस पर अवलम्बित जीवन ने स्वतः उत्पन्न किये दुःखों का शमन करने वाली सुधा कहाँ मिलेगी ?

'सुधा कैसे प्राप्त होगी ?' निराशा से स्थूलभद्र ने पूछा ।

'पारावार विपत्तिरूप संसार-समुद्र में डूबने वाले को ज्ञानियों में श्रेष्ठ, सर्व परमेष्ठियों में प्रथम ऐसे श्रीमहावीर अरिहंत की ही शरण है ।'

स्थूलभद्र को महावीर के अनुयायियों का सूक्ष्म परिचय प्राप्त था । 'प्रभो ! आप कौन हैं ?'

'वत्स ! मेरा नाम संभूतिविजय है । तू मेरे साथ चलेगा ? दुःख-मय संसार से छूटने का एक ही मार्ग है ।' आचार्य संभूतिविजय ने कहा ।

क्षण भर स्थूलभद्र ने विचार किया । यदि मैं इसके साथ न जाऊँगा तो फिर वही कोशा, निरंतर गायन, वादन, नृत्य, सुरा, निरंतर गंध, माल्य और रंग, निरंतर क्षणिक दैहिक सुख, निरंतर कल्लोल, कूजन और हास्य, वियोग और संयोग, फिर वही चित्रशाला, फिर वही पानागार, फिर वही शय्या । इस अनन्त चक्र से छूटने का कौन

सा मार्ग है ! और इसके साथ जाने से तो स्वच्छन्द विहार, भूमि-शय्या, भिक्षा का अन्न, न विरह की अग्नि न संयोग का क्षोभ, न सुख, न दुःख।

क्षण भर उसे कोशा याद आई। वह बाट देखेगी, रोयेगी, कल्पेगी···लेकिन सबेरे उठकर फिर उसका मुँह—रात्रि को भी उसका मुँह···

'भगवन्, मैं आपके आधीन हूँ। मुझे दीक्षा दीजिये।'

संभूतिविजय ने उसके सिर पर हाथ रखा। 'वत्स ! चल निकट स्थित ग्राम में जाकर तुझे सामयिकपूर्वक दीक्षा दूँगा। जिनागम का स्तम्भ होना तेरे भाग्य में लिखा है।'

स्थूलभद्र के हृदय का भार कुछ हल्का होने लगा। उसने एक बार फिरकर नगर की तरफ़ दृष्टि फेरी और दाँत पीसे। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का—रसिकता के धनुष पर स्थित भोगाकांक्षा के तीर के समान स्थिर, एकाग्र और तत्पर कोशा—अस्पष्ट को और भी अस्पष्ट करने वाला वह स्मरण-चिह्न था। दुनिया की समस्त घृणित वस्तुओं की प्रतिमूर्ति था वह।

उसने दूसरी ओर देखा। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द के द्वेष की ओर वह बढ़ रहा था। उत्साह से उसने कदम उठाये। द्वेष में उससे नवीन जीवन का आभास मिला।

२२

गौरी किसी तरह से घर आई। चुपचाप कोशा जैसी पतित स्त्री के यहाँ हो आकर उसकी घबराहट, और उसके भाई की दुर्दशा को देख उत्पन्न खेद, इन दोनों से उसकी जो कुछ हिम्मत थी वह भी कूच कर गई। उसकी सृष्टि पर प्रलय होने की तैयारी हो ऐसा उसे प्रतीत हुआ।

आज उसका घर देव-मन्दिर बन गया था। आगेवाले खंड में उसके पिता और विष्णुगुप्त बैठे थे और दर्शन करनेवालों की परम्परा चली आ रही थी। इस झोपड़ी ने इतने आदमियों को कभी न देखा था। वह भोजन बनाती हुई थोड़ी बहुत बातें सुन लेती थी, लेकिन उसमें उसको कुछ रस न मिल रहा था। झोपड़ी फिर कब निर्जीव और नीरव होगी इसकी वह प्रतीक्षा कर रही थी।

उसे सेनाजित से मिलने की अतीव उत्कंठा हो रही थी। वह विवाह करने का विचार करके पागल हो रहा होगा और यहाँ तो वह दूसरे से ब्याही जाने वाली है. खिन्न मन से गौरी ने सोचा। सेनाजित आज आयेगा ऐसा उसे लगा। कौन सी शर्त पर वह विवाह का निश्चय करेंगे, यह तो कल ही उसके पिता ने कह दिया है, और आज नरेन्द्रदेव की क्या आज्ञा है यह कहने के लिए तो उसे आना चाहिये। उसके आने पर वह क्या करेगी?

अन्त में उसका अनुमान ठीक निकला। उत्सुकता से आतुर सेनाजित की पगध्वनि सुनाई पड़ी, वह आया और शकटाल को अन्दर ले आया। गौरी असमंजस्य में पड़ गई कि किस मुंह से वह अब सेनाजित से मिल सकेगी, कुछ बात भी कर सकेगी या नहीं, क्या वह लग्न-तिथि निश्चित करने आया है? क्या उसके पिता विवाह करने से इन्कार कर देंगे? क्या वह आखिर सेनाजित से न ब्याहेगी? वह कहाँ जाय? कहाँ छिपे? घर में एक भी खण्ड खाली न था। शकटाल को लेकर सेनाजित अन्दर आया। उसका मुख गम्भीर था। उसकी आँखों मे ग्लानि थी। क्या पिता ने अस्वीकार कर दिया—गौरी को संशय हुआ।

'क्यो बेटा?'

'कल आपने जो कुछ कहा था वह मैने नरेन्द्रदेव से कह दिया है।' निःश्वास लेते हुए सेनाजित ने कहा। गौरी श्वास रोककर सुन रही थी।'

'अच्छा।'

'नरेन्द्रदेव आपको नैमिषारण्य जाने देने को तैयार हैं।' इसलिये क्या नरेन्द्रदेव ने विवाह करने के लिये आज्ञा दे दी, अब पिता क्या कहेंगे? गौरी के अंग-प्रत्यंग काँप रहे थे।

'तिथि?' शकटाल ने पूछा। उनका स्वर कठोर था। सेनाजित ने निःश्वास छोड़ी, 'अभी तिथि ठीक करने की आज्ञा नहीं दी है। नरेन्द्रदेव ने कहा है, कल महादेवी पितृगृह जा रही हैं, लौटने पर तय करना।' ज़रा कटुता से उसने आगे कहा, 'आप जानते ही हैं कि नरेन्द्रदेव और महादेवी मुझे अपने पुत्र के समान समझते हैं।'

'तब अभी लग्न-तिथि किस प्रकार तय की जा सकती है?' शकटाल ने पूछा। गौरी ने पिता के स्वर में एक अपरिचित कम्पन सुना। थोड़ी देर तक कोई न बोला। पिता क्या कहते हैं, गौरी इसकी प्रतीक्षा कर रही थी। क्या पिताजी इसी समय अस्वीकार कर देंगे? क्या होगा—सेनाजित का और उसका क्या होगा?

'तब तो मेरा नैमिषारण्य जाना भी स्थगित रहा।' शकटाल ने कहा।

गौरी की धारणानुसार कोई कुछ न बोला! क्या उसके पिता ने उसे सेनाजित से ब्याहने का निश्चय कर लिया था! क्षण भर के लिए उसे हर्ष हुआ। लेकिन रात्रि में, देखी हुई आचार्य की अटल मुख-मुद्रा का उसे स्मरण हुआ! क्या आचार्य ने निश्चय बदल दिया? यह क्यों?

दोनों पुरुषों में से कोई भी अधिक न बोला और वे बाहर चले गये। गौरी चकित रह गई। एक तरह से उसे चैन मिला। अभी तो सेनाजित से सम्बन्ध कोई तोड़ न रहा था इसलिये आपत्ति दूर थी और पिता भी अभी यहीं रहेंगे। फिर जो कुछ होगा वह देखा जायगा। उसकी घबराहट कुछ कम हुई। उसके सिर पर मँडराता भय दूर हुआ। अभी विचार करने का, किसी से पूछने का बहुत

समय था। आचार्य तो दो दिन में चले जायँगे। कब लौटेंगे इसे कौन जानता है? और फिर पहले ही जैसा हो जाय। बेचारा सेनाजित कैसा दुखी दिखाई पड़ता था! उसको विवाह करने की कैसी उत्सुकता थी! वह कैसा निराश दीखता था! उसका स्नेह कैसा निर्मल और अचल था! उसको दुःख देने में क्या सुख मिलेगा? पिता ने यह क्या सोचा है?

सन्ध्या हो गई थी। उसने उत्साह से राँधना शुरू किया। विगत निशा से आच्छादित बादल एकाएक शून्य में विलीन हो गये थे। भोजन करते समय उसने आचार्य को देखा। उनके स्वस्थ पदक्षालन में संचारित शक्ति को और उनकी तेजस्वी आँखों में स्थित गहनता के प्रताप को प्रस्फुटित होते देखा। जटा से सुशोभित और भस्म से अलंकृत उनके प्रशस्त ललाट की भव्यता उसे मन्त्रमुग्ध कर रही थी। क्या वह भगवान अश्विन के सदृश्य या बालशंकर जैसे, या युवा बृहस्पति के समान दीख रहे थे? गौरी भोजन परोसते समय उनकी ओर छिपी दृष्टि से, मर्यादा भंग किये बिना देख लेती थी!

तीन ब्राह्मण खाने बैठे थे—आचार्य, प्रमंडक और शकटाल। अपने पिता को तो वह रोज़ देखती थी और एक महात्मा की तरह उनको पूजती थी, परन्तु आचार्य के नेत्रों में, उनके मुख पर, उनकी ध्वनि और शब्दों में ऐसी कौन-सी वस्तु थी कि जिससे अपना भूला हुआ ब्राह्मणत्व याद आ जाता था? कल उसने जो शब्द कहे थे वह अब भी उसके अन्तस्थल में लिखे हुए थे। 'शिलातल की शय्या, भिक्षापात्र, मृगचर्म और विभूति—' ये क्षुद्र शब्द उसकी उपस्थिति में क्यों महत्त्वपूर्ण बन जाते थे?

'कल रात्रि से नन्दराज ने समाज रचा है।' उन्होंने गौरी की तरफ़ देखकर कहा, 'गौरी! तू भी किसी दिन समाज में गई है?'

'बचपन में गई होऊँगी,' गौरी ने कहा। पदभ्रष्ट अमात्य की कन्या का समाज में कैसा स्थान?

'आज आचार्यदेव ने सेनाजित से वचन लिया है कि उसकी बहिन के साथ तुझे ले जाय। आंभि कुमार आया यह अच्छा ही हुआ। संकेत और समाज देखने को तो मिलेगा। क्यों आचार्यदेव ?'

'हाँ सेनाजित ने ले जाने का तो वचन दिया है।' शकटाल ने कहा। गौरी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। जिस समाज को देखने के लिये संसार भर के लोग आते हैं वहाँ वह भी जायगी और फिर सेना-जित की बहिन के साथ—अपनी भावी ननद के साथ।

'कल रात से शुरू होगा। शाम को सेनाजित की बहिन का रथ आयेगा, यदि उनके नरेन्द्र देव की आज्ञा होगी तो।'

'कितने दिनों तक चलेगा ?' गौरी ने पूछा।

'चौथ की रात से आरम्भ होकर छठ को सबेरे तक समाप्त होगा और हम लोग चले जायेंगे।' विष्णुगुप्त ने कहा, 'लेकिन गौरी ! मैं जब तक लौट कर आऊँ तब तक एक बात का ध्यान रखना। आचार्य—अपने पिता की सेवा करना। तेरे जैसी आर्यपुत्री को बताने की आवश्यकता नहीं। भूलना मत कि पृथ्वी पर एक ही राजनीति और मगध में एक ही ब्राह्मण है—आचार्य शकटाल !'

'आप उनकी चिन्ता न करें।' शरमाते हुए गौरी ने कहा।

'आचार्यदेव !' अत्यन्त नम्रता से विष्णुगुप्त ने कहा, गौरी का हृदय सुकुमार है। इसकी बुद्धि अभी परिपक्व नही हुई है। शकटाल को पुत्रीत्व का गौरव धीरे-धीरे समझ में आने लगा है। 'गौरी !' एकदम गौरी की ओर देखकर मीठे स्वर में विष्णुगुप्त ने कहा, 'आज्ञा उल्लंघन करने के लिये आचार्यदेव से क्षमा माँगो ?'

गौरी की आँखों के सामने काला आवरण छा गया। विष्णुगुप्त क्या कहते हैं ? ओ अश्विनो ! वह कोशा के यहाँ गई थी क्या यह उन्हें मालूम हो गया है ?

शकटाल ने विष्णुगुप्त की ओर देखकर निर्वाक् प्रश्न किया।

'आज गौरी ज़रा क्षुब्ध थी, इसलिए आपकी आज्ञा का उल्लंघन-कर स्थूलभद्र से मिल आई।'

पृथ्वी फट गई हो इस प्रकार आँख फाड़कर गौरी देख रही थी। वृद्ध शकटाल का नेत्रविहीन मुख गौरी को अपनी निःशब्द उग्रता से भयभीत कर रहा था। गौरी की आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।

'आचार्यदेव! इसे क्षमा करें। सहोदर की प्रीति का भी कभी विस्मरण हुआ है? अच्छा ही हुआ', विष्णुगुप्त ने स्नेहार्द्र स्वर से कहा, 'गौरी ने उसकी पशुता अपनी आँखों से देख ली।'

'फिर वहीं क्यों नहीं जाती?' शकटाल ने कठोर स्वर में आज्ञा दी।

'आचार्यदेव! गौरी आपकी पुत्री है, वह शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की स्पर्धा करेगी। वह फिर कभी ऐसा न करेगी। उसका किसी से भी साहचर्य नहीं है, इस पर उसका जी न माने तो क्या करे? और फिर स्थूलभद्र अब मिलने का नहीं। गौरी के दर्शन से उसका उद्धार हो गया ऐसा लगता है। दोपहर से ही उसने वेश्या को त्याग दिया है और वह बैठी अब पछता रही है।'

गौरी अचेतन दृष्टि से देख रही थी। सब खाकर चले गये लेकिन उसको विचार करने की शक्ति न आई थी। चेतना लौटने पर वह विष्णुगुप्त की शक्ति का स्मरण कर भयभीत हो गई। क्या इस प्रतापी पुरुष की पत्नी बनने का सद्भाग्य उसे प्राप्त होगा? फिर सेनाजित का क्या होगा? और कल वह उसे बुलाने आने वाला है?

रात पड़ी। काम-काज से फ़ुरसत पाकर गौरी ने सोने की तैयारी की। सामने वाले खंड में शकटाल और प्रमंडक के साथ आचार्य धीमे स्वर में बात कर रहे थे। वह सो गई लेकिन कितनी देर तक सोयी इसका उसे ध्यान न था, कि इतने में किसी ने पीछे से दरवाजा ठोंका। प्रमंडक ने आकर उसे खोला और दो व्यक्ति अन्दर आये।

दीपक के मंद प्रकाश में एक तो सुकेतु जैसा लगा और दूसरा कौन था यह नहीं मालूम हुआ। वह दोनो अपनी-अपनी गठरी वहीं रखकर बाहर के खण्ड में आचार्य से बात करने गये।

इस प्रकार सब आयेंगे और नरेन्द्र को इस बात का पता चलेगा तब? गौरी को भय लगा। लेकिन क्या करे? वह बिस्तर में सिर डालकर पड़ी रही।

दो-तीन नालिका तक अन्दर वार्तालाप चलता रहा और सुकेतु का साथी अन्दर आया। अर्द्धनिन्द्रित गौरी जब तक उसे पहचाने उसके पहले ही वह एक छलाँग में ही उसके पास पहुँचा और उसके चिल्लाने के पहले लिपट गया।

'गौरी! मुझे पहचान लिया?' यह स्त्री-स्वर था और उसके हास्य में विजय-ध्वनि थी।

गौरी ने आँखें देखीं, ललाट देखा, होंठ देखे, केश की भव्य ग्रन्थि देखी। पाटलिपुत्र में एक ही से इन सब की अधिक घनिष्टता थी। 'कौन मैनाकी देवी?'

'चुप रह!' स्नेह से उसे दबाते हुए उसने कहा।

२३

संनिधाता की स्त्री का लालित्य पुरुष वेष में हज़ार गुना अधिक सुशोभित लगता था। वह हर्षोन्मत्त दीखती थी, उसके मुख पर हास्य था और उसके गाल के गड्ढे बार-बार गहरे हो ही जाते थे, उसके लाल अधर और भी लाल हो गये थे। उसका प्रौढ़ स्त्रीत्व इस समय विजय के तूफान में मस्त था।

'गौरी! मुझे आचार्य शकटाल उलाहना देते थे कि मैं तेरी ज़रा भी परवाह नहीं करती। बहिन, तू यों अकेली पड़ी रहे ऐसा कैसे हो सकता है?' जैसे अनेक वर्ष की मैत्री हो इस प्रकार वह बोली।

गौरी विस्मित हो गई। जैसे कोई अप्सरा विमान मे विहार करती हो इस प्रकार उसने संनिधाता की लावण्यमयी स्त्री को गोखड़े मे, झरोखे में या नदी पट पर हीरे सी देदीप्यमान दूर से देखी थी। पदभ्रष्ट शकटाल की पुत्री को वह पहचानती है या नहीं इसका भी उसे विश्वास न था। वह इस प्रकार पागल जैसी क्यों रही है? यह भाव उसके गर्विष्ठ हृदय में कैसे पैदा हुआ?

'गौरी, क्या सोच रही है? मुझसे बता। तू उस वेश्या के यहाँ गई थी? मुझसे कहना था न?'

गौरी शरमा गई। उसके पिता ने वह बात इससे भी कह दी। 'मैंने भूल की।'

'उँह चलो,' मैनाकी ने उत्साहित स्वर में कहा, 'उसमें हो क्या गया? आदमी का मन जब अन्दर ही अन्दर घुटने लगता है तब वह और क्या करेगा?'

गौरी ने इस प्रश्न में विष्णुगुप्त के शब्दों की प्रतिध्वनि सुनी। यह गर्विष्ट स्त्री क्या सचमुच ही उसकी सहायता करने आई है या किसी मतलब से उसे फुसला रही है?...या...या...विष्णुगुप्त की प्रेरणा से वह यह सब कर रही है?

'मेरे घबराने का क्या काम?' गौरी ने पूछा।

मैनाकी ने अपना होंठ उपहास के रूप में चबाकर कहा, 'देख मुझसे अगर झूठ बोली तो! गौरी, मैं सब कुछ जानती हूँ। खबर है, मैं तेरे लिए शकटाल से भी लड़ चुकी हूँ?' उसने आश्वासन दिया।

'क्यों?'

'क्यों इसी तरह तुझे अकेली पड़ी रहने देंगे...और सेनाजित तुझे प्रिय हो तो उसी से विवाह करना। अभी तो कुछ भी नहीं है।'

क्या उसके पिता ने सब बातें इससे कह दीं? गौरी ने विचार किया। उसे यह स्त्री स्नेहार्द्र लगी। यह किस लिए विश्वासघात

करेगी ? ऐसी विख्यात और सुन्दर स्त्री उसकी सहचरी हो इससे अधिक सद्भाग्य और क्या हो सकता है ? कहीं उससे बात करने का भी ठिकाना न था और कहाँ यह इन्द्राणी के समान जाज्वल्यमान मित्र ?

'देवी ! मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता । पिताजी और सब सुखी हों ऐसा ही मुझे करना है । लेकिन मार्ग कौन दिखाये ?'

'मै दिखाऊँगी, घबरा मत । तू कल दोपहर को मेरे यहाँ आना । मैं पालकी भेजूँगी !'

'आप क्यों कष्ट उठायेंगी ?'

मैनाकी हँसी । उसके हास्य की रमणीय तरंगें उस खण्ड मे बिखर पड़ीं । 'मै स्वयं तुझे सिर पर उठाऊँगी न, क्यों !' कह उसने गौरी को एक चपत जमा दी । 'और देख, शाम को तो सेनाजित तुझे ले जायगा—समाज में । मै भी जाऊँगी, वहीं भेंट होगी ।'

'आप भी जायँगी ?' प्रफुल्लित हो गौरी ने पूछा ।

'मेरे बिना क्या पाटलिपुत्र का राज्य चल सकता है ?' गर्व से हँसकर मैनाकी ने कहा, 'तू तो सेनाजित के बहिन के साथ जायगी ? ठीक, उन लोगों को भी पहचान लेगी ।'

'आप तो सभी कुछ जानती हैं, मालूम होता है ?'

'तब, मै कौन हूँ ?' मैनाकी फिर हँस पड़ी । जैसे पाटलिपुत्र का राज्य उसी का हो इस प्रकार वह इस समय हँस रही थी । इस तेजस्वी स्त्री की चमक देख गौरी की आँखें चकाचौंध हो गईं । 'बोल तू क्या पहनेगी ? मेरे यहाँ आयेगी तब वस्त्रालंकार दूँगी ।'

'नही जी, मुझे क्या करना है ?' गौरी के अन्तःकरण में शब्द गूँज उठे, 'शिलातल की शय्या, भिक्षापात्र, मृगचर्म और विभूति ।'

'अरे ! कहीं ऐसा हो सकता है ? मै इतने सुन्दर दूँगी कि तू और भी अधिक सुन्दर दीखेगी !'

'मैं तो ठीक हूँ, लेकिन आप कैसी लगेंगी यह मुझे देखना है ?'

'देखना, मोहित हो जायगी।' मैनाकी ने कहा, 'मैं इस पुरुष-वेश मे कैसी लगती हूँ?'

'कोई आपको पुरुष नहीं समझ सकता। आपकी वेणी और आँखें फ़ौरन ही पकड़ ली जायँगी।' द्विगुण स्नेह से उसने कहा।

'तू भी मोहित हो गई है, याद रखना।'

'मैं सनिधाता होऊँ तो—'

मैनाकी के मुख पर का हर्ष उड़ गया। उसने भ्रूभङ्ग करके मुख झटकाया और गौरी का वाक्य आधा ही रह गया।

'अच्छा, अब मैं जा रही हूँ।' मैनाकी ने कहा।

'आना देवी।' उत्साह से उसने कहा।

'और भी कुछ कहना है?'

थोड़ी देर के लिये वह विचार-मग्न हो गई और अन्त में मैनाकी के महान् स्नेह से वह मात खा बैठी, और हृदय खोल दिया।

'देवी! सेनाजित कैसा लगेगा?'

'फक्कड़! कल उसका ठाट देखने योग्य होगा। तू हृदय को बस में रखना।'

भोली गौरी के हृदय का खुला हुआ द्वार बन्द कैसे हो सकता था!

'आपके यहाँ आते हैं?'

'हाँ, रोज।'

'उनकी बहिन कैसी है?'

'देखने लायक! रुई के मोटर गट्ठर जैसी। लेकिन भली है वह। अच्छी लगेगी।'

'मुझे बहुत डर लगता है।'

'तेरे पिता तो भय को निगल बैठे हैं और तू ऐसी ढीली-पोची क्यों है?'

'कौन जाने! और देवी, सबसे अधिक सुन्दर कौन है?'

'सुन्दर! अरे मूर्ख! यह भी मालूम नहीं?'

'कौन आप ?' हँसकर गौरी ने कहा।

'यह तुझे नहीं मालूम ? पाटलिपुत्र में जो मुझसे अधिक सुन्दर हो उसके बाल नोंच डालूँ।' कह मैनाकी फिर हँस पड़ी।

'और एक बात पूछूँ ? पिताजी ने यह सब क्या कर रखा है ?' गौरी ने धीरे से कहा।

'मै कल बताऊँगी। अब जाती हूँ।' कह मैनाकी जाने लगी।

'लेकिन देवी, जरा खड़ी रहो। मेरी तबियत नहीं लगती।'

'क्या है ?'

'आप आचार्य से मिलीं ?' ज़रा धीरे से गौरी ने पूछा। मैनाकी गम्भीर हो गई। 'किससे, तेरे पिता से ?' उसने बात उड़ायी।

'नहीं, तक्षशि—' गौरी ने सामने वाले खण्ड की तरफ देखा।

मैनाकी बोली नहीं।

'बोलती क्यों नहीं ?'

'कहूँ ? गौरी, मन में रखना।' मैनाकी ने धीरे से गम्भीर स्वर से कहा, 'वह आचार्य आदमी नहीं—'

'ऐं !'

'—देवता है।' श्रद्धा से मैनाकी ने कहा।

गौरी ने निःश्वास छोड़कर नीचे देखा।

'गौरी, अपने लग्न का विचार कर रही है ? सेनाजित या आचार्य ? मूर्ख ! मैं तेरी जगह होऊँ तो क्या करूँ मालूम है ?'

'नहीं।'

चौरासी लाख योनि मे यदि प्रत्येक में मुझे सेनाजित मिलें तो भी आचार्य की प्रतीक्षा किया करूँ !' उसने भयंकर गाम्भीर्य से कहा।

गौरी ने मैनाकी की गम्भीर आँखों को देखा और वह शब्द सुने, उनका अर्थ समझा और क़दम बढ़ाकर अपने बिस्तर पर जा पड़ी।

मैनाकी चुपचाप वहाँ से बाहर के खण्ड में गई और थोड़ी देर में सुकेतु को लेकर बाहर चली गई।

गौरी थोडी देर तक कल के उत्सव का विचार करती रही। अच्छे वस्त्र पहन, सेनाजित की बहिन के साथ जाने का विचार करती-करती वह सो गई।

२४

दूसरे दिन सवेरे नरेन्द्रदेव के उठने पर ही तत्काल संनिधाता दर्शक उससे मिलने के लिए आ धमके।

संनिधाता आज अत्यन्त ही प्रसन्नचित हों ऐसा प्रतीत होता था। उनके नेत्र हर्ष से बार-बार मींच जाते थे। उनका हाथ बार-बार पेट पर आ पड़ता, और उनके अधर पर स्मित झलक रहा था।

बात अत्यन्त ही गम्भीर थी। अनेक वर्षों बीते, उनकी तीव्र बुद्धि होने पर भी नरेन्द्रदेव राज्य सम्बन्धी कोई परामर्श उनसे न करते थे। धन के सम्बन्ध में वह सर्वमान्य थे, पर राजनीति मे उनका कोई हिसाब न बैठता था। यह बात उनको बडी ही खटकती थी, लेकिन इस बात से उनके हृदय में भय व्याप्त हो गया था और इसीसे उनका मस्तिष्क राजनीति में बराबर काम न करता था।

आज सवेरे उनके दिमाग़ में एक महान् विचार उठा। यह विचार उनका ही था अथवा उनकी मैनाकी का यह स्पष्ट न था, लेकिन उन्होंने उसे पूरा-पूरा हल कर लिया था। नहीं, नहीं! वह विचार भी उन्हीं का था। मैनाकी ने उनकी तत्परता की प्रशंसा की थी, नहीं तो मैनाकी किसी दिन नहीं और आज मुक्तकंठ से प्रशंसा करे? उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह विचार उनका अपना ही था।

इस निश्चय के साथ-साथ उनकी प्रसन्नता का एक और भी

कारण था । आज मैनाकी ने दाढ़ी पकड़कर उन्हें उठाया था, और हँसते-हँसते उनकी नाक पकड़ ली थी—यह आल्हादिक, मादक स्पर्श उनको अभी तक अनुभव हो रहा था।

यह विचार अत्यन्त ही गहन और सरस था, वक्रनास आदि जिस वस्तु की चिन्ता आज दो दिन से कर रहे थे उसका हल था वह। इस सार को कहीं नरेन्द्रदेव से कोई कह न दे इसी का उन्हें इतना भय था। वह स्वयं मिलने आये हैं, यह संदेश उन्होंने बहुत देर का भेजा था; लेकिन अभी तक नरेन्द्रदेव क्यो नहीं आये? क्या उनका विचार वक्रनास जान गया है? यह कैसे होगा? यावनी आ गई और सेनाजित भी आ गया और फिर नरेन्द्रदेव और वक्रनास दोनों आये। संनिधाता हँसने लगे। आज वह वक्रनास को भी पाठ पढाने आये हैं।

'क्यों दर्शक, तू इस समय कहाँ से? पत्नी ने निकाल बाहर किया क्या?' नरेन्द्रदेव ने हँसते हुए पूछा।

'देव! चाहे जैसी हो पर है तो वैशाली की कन्या।' वक्रनास ने क्रूरता से हँसते हुए कहा।

'कृपानाथ! एक आवश्यक कार्य के विषय में आया हूँ।'

नरेन्द्रदेव ने आस-पास देखा इससे वक्रनास और एक यावनी के अतिरिक्त सब चले गये।

'बोलो क्या है?' नरेन्द्रदेव ने पूछा।

'आज तीन दिन से आप और अमात्य सब चिन्तातुर हैं—तक्षशिला के उस ब्राह्मण के कारण।'

'किसने कहा?' वक्रनास ने पूछा।

गर्व से संनिधाता ने अपने पेट पर पाथ फेरा और हँसे। 'मैं भी थोड़ा-बहुत जानता हूँ। आज तीन दिन से नरेन्द्रदेव अस्वस्थ हैं क्या यह मुझे भी मालूम न होगा?'

'अच्छा, तो क्या जानते हो?'

'अमात्य उसे यहाँ से निकाल बाहर करने की चेष्टा कर रहे हैं, और आंभि का वह मित्र किस प्रकार यहाँ से टले इसकी चिन्ता उन्हें दिन-रात सताया करती है, इसीलिए उसमें सहायक होना मेरा कर्तव्य है।'

'क्या सहायता करोगे!' संनिधाता की तरफ आश्चर्य से देखकर नरेन्द्र ने कहा।

'उसको यहाँ से निकालने के लिए ही महादेवी को भेज रहे हैं न?' संनिधाता ने कहा।

नरेन्द्र और वक्रनास के मुख की कान्ति क्षीण पड़ गई। इस आदमी मे इतनी बुद्धि कहाँ से आई?

'संनिधाता!' वक्रनास ने जरा मुँह बनाकर कहा, 'जो कहना चाहते हो कहो।'

'मै एक मार्ग दिखाने आया हूँ।' सिंह की तरह छाती फुलाकर संनिधाता ने कहा।

'कौन सा?'

'देखो,' रोब से संनिधाता ने कहा, 'वह ब्राह्मण कुछ गोलमाल करने आया है।'

'कैसे मालूम हुआ?' वक्रनास ने पूछा।

'मैने जान लिया है। उसको जाने देना तो आपका उपाय है, और उसे यहीं रखना मेरा उपाय है।'

नरेन्द्र और वक्रनास दोनो हँस पड़े। संनिधाता ज़रा खिसिया गये।

'किस प्रकार?' नरेन्द्र ने पूछा।

'देखिये, समाज के पश्चात् आप युवराज आंभि और शेष को विदा करने की सोच रहे हैं।'

'हाँ।'

'उस समय उसे अर्घ्य देने आमन्त्रित किया है न?'

'अच्छा !' वक्रनास ने आश्चर्य से कहा।

'वह वहाँ आ ही न पाये तब कैसा ?'

'मूर्ख ! यह बहुत सरल बात होगी, क्यों !' नरेन्द्रदेव ने कहा।

संनिधाता ने धीरे से कहा, 'आने से पहले यदि शकटाल का घर भस्मीभूत कर दिया जाय तब कैसा ?' कह निश्चिन्तता से संनिधाता ने अपने पेट पर हाथ फेरा। नरेन्द्र और वक्रनास ने एक-दूसरे को देखते हुए चिन्ता प्रकट की।

'लेकिन आंभि और शेष तूफ़ान खड़ा करेंगे तब !' नरेन्द्र ने कहा।

'उनकी एक न चलेगी। सब मिलाकर उनके पास कुल आठ सौ सैनिक होंगे और हम दो हजार तैयार रखेंगे।'

'बहुत भय है।' वक्रनास ने गर्दन हिलाई।

'लेकिन उसके चले जाने पर कितनी विपत्ति सिर पर आवेगी उसका भी कुछ ध्यान है ?' संनिधाता ने कहा। 'तक्षशिला और क्षुद्रक माल्लवों के साथ युद्ध करना पड़ेगा।'

'लेकिन मूढ़ !' नरेन्द्र ने कहा, 'एक ब्राह्मण के लिये इतना तूफ़ान क्यों खड़ा किया जाय ?'

'देखिये कृपानाथ ! करना और न करना आपके हाथ में है। मैं तो सलाह देकर बरी हो गया।'

वक्रनास ने सिर हिलाया, 'तेरा मार्ग दुष्कर है, फिर भी मैं इस पर विचार करूँगा।'

संनिधाता को निश्चय हो गया कि ईर्ष्यालु वक्रनास जान-बूझकर यह मार्ग नहीं ले रहा है।

'अच्छा, यदि कुछ गोलमाल हो जाय तो मुझसे पूछने न आना।'

'दर्शक !' नरेन्द्र ने कहा, 'एक काम कर, अपनी योजनानुसार तू अपनी तैयारी कर ले। आवश्यकता पड़ने पर उस योजना को कार्यान्वित किया जायगा।'

'जो आज्ञा कृपानाथ !' नीचे झुककर दर्शक ने प्रणाम किया।

'अब जा।' नरेन्द्र ने कहा। दर्शक प्रणामकर चला गया?

'वक्रनास ! आज इसे क्या हुआ है ?' उसने पूछा।

'इसमें कुछ रहस्य है।'

'क्या हो सकता है ?'

'यह बुद्धि उसकी नहीं, किसी दूसरे की हो सकती है।'

'दूसरा और कौन है ?'

'हाँ।' वक्रनास दीवाल पर हाथ रखकर हँसने लगा, 'मैनाकी की।'

'उसकी स्त्री की ?' नरेन्द्र ने विस्मित होकर पूछा।

'और कोई नहीं दीखता ?'

'लेकिन वह यह सब कैसे जानती है ?'

'यही समझ में नहीं आता। यदि वह यह सब जानती है तो बहुत ही बुरा होगा। वह और चन्द्रगुप्त दोनों एक हैं।'

'हाँ।' चिन्तातुर स्वर में नरेन्द्र ने कहा।

'एक ही कारण हो सकता है।'

'क्या ?'

'दर्शक अमात्य पद लेना चाहता है, और उसीकी यह सब योजना है।'

'ऐसा ?' नरेन्द्र सहमे, 'यह तो बेचारा अपना आदमी है लेकिन इसकी स्त्री का कैसे ठीक हो ?'

'उसकी स्त्री के आनन्द का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक तो कुछ करना है नहीं। चन्द्रगुप्त के लौटने पर फिर शान्ति हो जायगी आज ही से उसके घर में गूढ़ पुरुष रखूँगा।'

'समाज की तैयारी हो गई ?'

'हाँ सब तैयार है !'

'चाणक्य को आमन्त्रित किया ?'

'मैं अभी स्वयं कहने जा रहा हूँ, मुझे उसे आँकना है, समय पड़ने पर कहीं कुछ काम आ जाय।' वक्रनास ने विश्वास दिलाया।

'महादेवी तो तैयार हो गई है।' नरेन्द्र ने कहा।

'हाँ, उनको पितृगृह जाने की जल्दी है।'

'तब छठ को सबेरे ही सब को विदा किया जाय। इस ब्राह्मण को भी जाने दिया जाय।'

'अभी तो यही निश्चय रखेंगे, फिर देखा जायगा। कौन जाने क्या हो? इस चाणक्य का मुझे भरोसा नहीं।'

इतने में एक मन्त्री आया और वक्रनास के कान में कुछ कहने लगा।

'क्या है?' नरेन्द्र ने पूछा।

'कृपानाथ! मध्य रात्रि को सुकेतु और एक दूसरा पुरुष शकटाल के यहाँ पीछे के द्वार से गये थे।'

'फिर?'

'और बड़ी देर तक वहाँ रहने के बाद सुकेतु के यहाँ गये।'

'दूसरा कौन था?'

'कोई लड़का था। पहचाना न गया। सुकेतु के घर में से निकला नहीं है।'

'अभी तक?' आश्चर्य से वक्रनास ने कहा।

'हाँ।'

'अच्छा जा।' वक्रनास ने कहा।

फिर अकेले में नरेन्द्र ने कहा, 'यह एक नयी आफत उठ खड़ी हुई।'

'इसकी कोई चिन्ता नहीं। छठ को सबके चले जाने पर अष्टमी को चन्द्रगुप्त प्राग्ज्योतिष से लौटेंगे। फिर सुकेतु का क्या भय है?'

'न मालूम यह सब यहाँ से कब निकलेंगे।' नरेन्द्र ने कहा।

इतने में एक दूसरा मन्त्री आया।

'कृपानाथ ! कोशा मिलना चाहती है।'

'वेश्या?' वक्रनास ने पूछा, 'क्या सब निवृत्त हो गये जो उसका काम निकल आया ? क्या काम है ?'

'कहती है कि अत्यन्त ही महत्वपूर्ण काम है।'

'बुलाओ।' हँसकर नरेन्द्र ने कहा, 'ज़रा मज़ा ही रहेगा।' मन्त्री नमस्कारकर चला गया, और कुछ क्षणों में कोशा आई। एक दिन में कोशा का रूप-रंग बदल गया था। रोते-रोते उसकी आँखें लाल हो गई थीं, उसके केश बिखरे हुए थे। उसका मुख सूखा हुआ था। इस समय वह दुःख की साक्षात् प्रतिमा-सी दीखती थी। आकर उसने नरेन्द्र और वक्रनास को प्रणाम किया और सामने बैठ गई।

'क्यों ?' नरेन्द्र ने उपहास से हँसकर पूछा।

'कृपानाथ, देव !' उसके स्वर में दीनता थी, 'मेरा सौभाग्य बिछुड़ गया है, उसकी भिक्षा लेने आई हूँ।'

'क्या हुआ तुझे ?' वक्रनास ने तिरस्कार से पूछा, 'बुढ़ापा आ गया ?'

'आया होता तो अच्छा होता।' उसने निराशा से कहा, 'स्थूलभद्र चले गये।'

'कहाँ ?' वक्रनास ने गम्भीरता से ध्यान दिया।

'दोपहर से गये फिर घर नहीं लौटे।'

'खोज की थी ?'

'बहुत की।' कोशा ने सिर पर हाथ रखकर उत्तर दिया, 'अन्त में पता चला। एक मुंड के साथ दीक्षा ले चले गये।' कोशा की आँखों से आँसू बिखर पडे।

नरेन्द्र हँसे। 'शकटाल का लड़का मुंड हो गया ! वक्रनास ! यह खुशखबरी है।'

वक्रनास के मुख पर द्वेष भरा हर्ष छा गया।

'कृपानाथ ! मेरे स्थूलभद्र को फिर बुला दीजिये। उसके बिना मैं कैसे जीऊँगी ?' उसने विनय की। कोशा की गम्भीर व्यथा देख नंद की हँसी बढ़ने लगी, 'लेकिन मैं क्या करूँ ?' किसी तरह से हँसी रोकते हुए उन्होंने पूछा।

'उनके गुरु को बुलाकर आज्ञा दे दीजिये।'

'लेकिन पगली, यह सब मुझसे कैसे होगा ?'

'कृपानाथ ! आप नहीं करेंगे तो और कौन करेगा ?'

नंद के हास्य मे वक्रनास भी संयुक्त हुआ।

'देव ! एक काम कीजिये,' वक्रनास ने क्रूर हास्य से कहा।

'क्या ?'

'यह बेचारी अकेली पड़ी है। इसे और किसी को सौंप दीजिये।'

कोशा पहले तो समझी नहीं, फिर समझी तो उसके क्रोध का वारापार न रहा। उसकी रोती हुई आँखों से रोष टपक रहा था।

नरेन्द्र खिलखिलाकर हँस पड़े। 'अरे हाँ, यह बात ठीक है। कोशा रोती क्यों है ? पाटलिपुत्र में स्थूलभद्रों की क्या कमी है ?'

'देव ! क्या कह रहे हैं आप ? मरे हुए को क्यों मार रहे हैं ! संसार में मेरा एक ही स्थूलभद्र था।'

नरेन्द्र फिर हँसे। 'वक्रनास ! पाटलिपुत्र की वेश्या भी अब शीलसम्पन्ना हो गई हैं।' वक्रनास उत्तर में हँस पड़ा। 'कोशा ! घबरा नहीं। तेरे पास दूसरे को भेजता हूँ।'

'कृपानाथ ! दया करो। मुझे कोई नहीं चाहिए।'

'अरे, कहीं ऐसे चलेगा ?' वक्रनास ने एक आँख कोशा पर स्थिर-कर कहा।

'नहीं, नहीं !' रोते हुए कोशा ने कहा। इस विषय मे नरेन्द्रदेव की आज्ञा स्वीकार करने का प्रत्येक वेश्या का कर्त्तव्य था और अगर वह न पालन करे तो उसे कठोर दण्ड देने का नियम

था। कोशा ने देखा कि स्थूलभद्र को प्राप्त करने की आशा में यहाँ उसका भाग्य उसके सामने आया।

'कोशा!' वक्रनास ने गम्भीर स्वर में कहा, 'नरेन्द्रदेव की आज्ञा हो चुकी।'

'देव की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है—लेकिन-लेकिन—'

'अरे लेकिन और वेकिन।' वक्रनास ने गम्भीर स्वर से कहा, 'देव! कोशा को कौन रखेगा?'

'हमारा सीताध्यक्ष[1] तैयार है।'

'देव—'

'कोशा! अब बहुत हो चुका, जा।' नरेन्द्र ने कठोर होकर कहा।

कोशा उठी और नरेन्द्रदेव को प्रणाम किया। उसकी आँखों में विष उतर आया था। दृष्टिगत नम्रता उसका क्रोध न छिपा सकती थी। गर्व से वह खड़ी हो गई।

'सीताध्यक्ष कब आयेंगे?' उसने पूछा।

'समाज में मिलेंगे।' वक्रनास ने कहा।

'जैसी आज्ञा!' कह सिर ऊँचाकर क्रोध से फुफकारती हुई बाहर चली गई।

२५

चौथ के प्रातःकाल से पाटलिपुत्र से राजगिरि तक का मार्ग आदमियों से भरने लगा।

इस मार्ग से सवेरे से ही पैदल चलने वाले पथिक जाने लगे थे, बहुत-सी स्त्रियाँ और बच्चे साथ में थे। कितने ही अपने बच्चों को कन्धों पर चढ़ाये हुए थे, कितने ही वृद्ध बच्चों का सहारा ले चल रहे थे—उनकी निस्तेज आँखों में नवीन उत्साह था।

---

[1] कृषि अध्यक्ष।

उसी मार्ग पर बैलों के वाहन पर जाने वाले भी मंथर गति से जाते दीखे। जोश में आकर, बैलगाड़ी की दौड़ की शर्त लगाकर दौड़ाते हुए, लोग हुङ्कार और गर्जना से अपना उत्साह दिखा रहे थे। दो प्याऊ वाले एक भैंसे पर और दूसरा गदहे पर आरूढ़ हो इस शान से चले जा रहे थे जैसे हाथी पर ही सवारी किये हों।

उसी मार्ग पर रँगीले, अलंकृत, घुँघरू वाले अश्वों पर चढ़कर हर्षमत्त हो अश्वारोही अपने घोड़ों को गनगनाते, पैदल चलने वालों के साथ-साथ टोलटप्पे मिलाते हुए आ रहे थे।

उसी मार्ग पर कोई वृद्ध राजपुरुष, कोई अत्यन्त मोटा सेठ, कोई रूपगर्विता स्त्री—शस्त्र सैनिकों से संरक्षित पालकियों पर चढ़कर आ रही थी। कितनी ही स्त्रियों ने अपनी पालकियों पर ज़री के आवरण डाल रखे थे और अपना रूप देखकर कौतूहल हो इससे भी अधिक कौतूहल पैदा करने की पैरवी कर रही थीं।

उसी मार्ग पर रथ और हाथियों से शोभित महाजन भी आ मिले। रथों के अश्व चल न रहे थे बल्कि नृत्य कर रहे थे। हाथी भी न चल रहे थे वरन् झूमते हुए विहार कर रहे थे। रथ के ऊपर की ध्वजायें फहरा रही थीं और अम्बारियों के शिखर चमक रहे थे।

उसी मार्ग से श्वेत और प्रतापी, सोने से रँगे हुए हय-युगल सवेग दौड़ते और धूल उड़ाते आये और लोगों के मार्ग देने से पहले ही वह अपने दैदीप्यमान रथ को ले गये। पथिकों ने रत्न में चमकती, स्फटिक-सी शोभित, देवांगना-सी तेजोमयी एक स्त्री को चंचला के वेग से जाते देखा, और स्मरण पट पर अंकित किया कि आज महामात्र संनिधाता दर्शक की सुविख्यात पत्नी को देख उनका जीवन कृतार्थ हुआ।

उसी मार्ग से प्रतापी राज-पुरुष, सेनापति और अध्यक्ष भी आये। संनिधाता दर्शक भी अपने हाथी पर बैठकर आये। अंतःपुर के रथ

भी ज़री के आवरण के पीछे हँसती युवतियों का लालित्य संचय करके आये।

और अन्त में राजहस्ती भी आया। हिरण्यगुप्त नन्द के साथ आंभि कुमार विराजमान थे। पीछे वक्रनास, राक्षस और आंभि के मन्त्री बैठे थे। आस-पास तीन सौ अश्वारोही सेनाजित की आज्ञानुसार प्रग्रसित हो रहे थे।

यह सब राजगिरि पर रचित समाज को देखने जा रहे थे। नन्द की राजधानी पर आच्छादित विषाद आज विलीन हो गया था। सब आनन्दोन्मत्त थे। अनेक बार धननंद ने अपने प्रजाजनो को अपना आतिथ्य लाभ प्रदान किया था।

राजगिरि एक छोटी पहाड़ी थी। वहाँ एक विस्तृत मैदान में समाज की रचना हुई थी।

मगधराज के समाज जगत्-विख्यात थे। चाणुर-मुष्टि के युद्ध में कंस द्वारा रचित समाज से भी अधिक आकर्षण था उसमें, पाण्डवों के परीक्षार्थ द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित समाज से भी अधिक वीरता का प्रदर्शन होता था, और उसमें यादवों द्वारा मण्डित समाज से भी अधिक तूफान था।

यह मैदान एक सहस्र-धनुर् लम्बा और पाँच सौ धनुर् चौड़ा था। उसके पश्चिम में सरस्वती का मन्दिर था। समस्त चौगान उस मन्दिर का सभागृह था।

इस मन्दिर के विशाल पत्थर के चबूतरे पर रंगभूमि थी और मैदान की दोनों ओर प्रेक्षागार बने थे।

दक्षिण ओर का पहला प्रेक्षागार नरेन्द्रदेव का था और सामने का प्रेक्षागार था अन्तःपुर के लिए। फिर कुछ प्रेक्षागार अलग-अलग महाजनों के लिए थे, उसके बाद वाले प्रेक्षागार विभिन्न गणों के थे जहाँ नगरजन बैठते थे।

प्रत्येक दर्शक ने अपना-अपना प्रेक्षागृह अपनी सामर्थ्य के अनुसार

अलंकृत किया था। सब स्थान पर रंग-बिरंगे आच्छादन थे। प्रत्येक गृह से चौगान स्पष्ट दिखाई पड़े इसलिए मंच पर मंच स्थापित किये गये थे। अंतःपुर के गृह पर सूक्ष्म जाली की यवनिका पड़ी थी। नरेन्द्रदेव के प्रेक्षागृह पर स्वर्ण-पत्र लगे हुए थे और अन्दर का स्थान रंगीन आवरण और पुष्पों से सुशोभित था।

मन्दिर का सामने वाला भाग खुला था, वहाँ दरिद्र नर-नारी आ बैठे थे।

दो प्रेक्षागार के बीच में पशुओं के आने का मार्ग था। मन्दिर और प्रत्येक प्रेक्षागार पर वाद्ययंत्र—ढोल और तुरई-तुमुल नाद से गगन भेद रहे थे।

प्रेक्षागार के पीछे की ओर राजा के रसोइये समाज में आये हुए लोगों के लिये भोजनालय में मांस और अनेक प्रकार की सुवासित खाद्य-सामग्री तैयार कर रहे थे। धरती में गड़े हुए वर्तनों में पानी भरा हुआ था। स्थान-स्थान पर फल, अवदंश[1], और सुरा महापुरुषों के लिए रखी हुई थी। पाटलिपुत्र का जनसमूह यहाँ दो दिन और दो रात उत्सव मनाने आता था।

गौरी विमूढ़-सी यह सब देख रही थी। सेनाजित की बहिन सुनेत्रा अधेड़ उम्र की मोटी और भली स्त्री थी। वह अपनी सब अनन्य सहचरियों के साथ सेनाजित के प्रेक्षागृह को सजा रही थी। घबराई हुई गौरी उसे अच्छी न लगी। उसका भाई खराब बहू ले आया है, ऐसा उसे मानना पड़ा। उसे किसी महापुरुष की कन्या अच्छी लगती, लेकिन वह अपने तेजस्वी भाई से डरती थी और कहीं वह क्रोधित न हो जाय इस भय से भावी बहू पर कृत्रिम लाड़ दिखा रही थी।

गौरी यह सब देखती रही। इतना अपार जनसमुदाय उसने कभी न देखा था। वह सब को देखने में लीन हो रही थी और सुनेत्रा को सारे नगर से परिचय कराने में आनन्द आ रहा था।

---

[1] उत्तेजक पदार्थ

उसने ग़रीबों को हर्षित और पैसे वालों को मटकते देखा। हँसी-दिल्लगी करते हँसते शूर-वीरों को, कुटुम्बियों में घूमते धनाढ्यों को, अचम्भित परदेशियों को, मिजाज़ से पैर रखती सुन्दरियों को, आडम्बर दिखाते सामन्तों को और गर्व से आते राजपुरुषों को देखा। इन सब को उसने बारी-बारी से देखा और पाटलिपुत्र की सत्ता और समृद्धि का प्रदर्शन देख पिता की अधोगति का दुःखद स्मरण हो आया—यदि वह इस समय अमात्य होते तो वह······

दो सुवर्ण रंगी अश्वोंवाला, इन्द्र का-सा उड़ता हुआ रथ वहाँ आया और नरेन्द्रदेव के प्रेक्षागार के पास रुक गया था।

प्रत्येक गर्दनें उत्सुकता से आगे बढ़ गईं, प्रत्येक आँखें कुतूहलता से देखने लगीं।

'यह कौन है?' गौरी ने सुनेत्रा से पूछा।

'उँह!' सुनेत्रा ने मुँह बनाया, 'वह तो मैनाकी है।' तिरस्कार से उसने कहा। अपने पति की एक सामान्य अध्यक्ष की पदवी, उसकी साधारण धनाढ्य की स्थिति, उसका सामान्य रूप—इन सब से थककर सुनेत्रा मैनाकी को देखकर जल-भुन गई।

'कौन, देवी?'

सुनेत्रा की सहचरियाँ जरा तिरस्कार से देख रही थीं। सुनेत्रा के सामने मैनाकी की प्रशंसा करना उसके क्रोध को प्रज्वलित करना था। सुनेत्रा के नेत्रों में क्रोध था, फिर भी मंत्रमुग्ध-से नीचे झुक गये।

हीरे और रत्नों से सुशोभित सौन्दर्य-स्वप्न-सी मैनाकी रथ में से छटायुक्त उतरी। चारों तरफ उसने दृष्टिपात किया और एक दृष्टि से सेनाजित के प्रेक्षागृह की तरफ देखा—वह हँसी। सुनेत्रा की सखियों के मुख पर का क्रोध विलीन हो गया और नम्रतामय स्मित उनके अधरों पर से फूट पड़ा।

मैनाकी अपने प्रेक्षागृह में जाने के बदले सुनेत्रा की तरफ आई।

सुनेत्रा ने गौरी से पूछा, 'क्या तुम्हें मैनाकी जानती है?' उसके स्वर में मान था।

'हाँ, देवी मेरी बहिन के समान हैं,' गौरी को गर्व हो आया। सब गौरी की तरफ़ सम्मानित दृष्टि से देखने लगे। यह लड़की मैनाकी की बहिन!

अन्धकार-ग्रसित बादलों में से कलाधर के समान मैनाकी आई। 'क्यों गौरी, कैसी हो?' हीरे चमके, सुगंध और सुवास से समस्त खण्ड महक उठा। हाथ जोड़कर सब हँस पड़ीं। सुनेत्रा के मुख पर भी हास्य छलक आया।

'देवी, इन्हें पहचानती हैं?' गौरी ने लज्जा से कहा, 'सेनाजित की बहिन।'

'सुनेत्रा देवी को मैं पहचानती हूँ।' मैनाकी ने हँसकर कहा। सुनेत्रा के मुँह में पानी भर गया।

'तुम दोनों मेरे साथ आओ न! इन्कार मत करना। चलो, सेनाजित भी वहीं आवेंगे।'

सुनेत्रा की आँखों में अँधेरा छाने लगा। समस्त पाटलिपुत्र के देखते हुए मैनाकी के साथ बैठना, हँसना, खाना, सोना! यथार्थ में उसके भाई ने बड़ी ही सुन्दर बधू पसद की है। गौरी न होती तो क्या उसे मैनाकी के पास बैठने का अवसर मिलता?

गौरी अस्वीकार करना चाहती थी, लेकिन सुनेत्रा दूसरी बार कहने की बाट जोहने वाली न थी। उसने अपनी शाल हाथ में ली और साथ में गौरी को भी ले लिया।

'अध्यक्षराज आयें तो कह देना कि मै देवी के प्रेक्षागृह में हूँ।'

मैनाकी इन दोनों को ले अपने प्रेक्षागृह में आई। नंदराज के गृह से ज़रा ही कम दैदीप्यमान था वह; लेकिन उसमें चित्रित चित्र, जड़ित रत्न और बिखरे हुए पुष्प उसे अत्यन्त ही रमणीय बना रहे

थे। चन्दन की सुवास चारो ओर प्रसरित थी। इस प्रेक्षागृह में छोटे-छोटे खण्ड थे। चारों तरफ दास-दासियाँ फिर रही थी।

गौरी यह ठाट और विलास देख दिग्मूढ़ रह गई। सुनेत्रा मुग्ध होकर दीनभाव निरखती रही। इन सब में देवागना सदृश्य मैनाकी प्रताप की रश्मियाँ बिखेरती फिर रही थी। वाद्ययंत्र बज उठे। भेरी-घोष हुआ, दुन्दुभि गड़गडा उठी। सहस्रों लोगों ने जयघोष किया और नंदराजा और उनके अतिथि पधारे।

गौरी का ध्यान न राजहस्ती पर गया, न धननंद पर, और न आंभि कुमार पर ही, लेकिन राजहस्ती के निकट फिरते एक सुसज्जित अश्वारोही नायक पर उसकी दृष्टि स्थिर थी।

उस अश्वारोही का पवन-पंखी अश्व, उसका स्वर्णिम कवच सूर्यतेज से निर्मित हो, ऐसा आलोकित हो रहा था; उसके मुकुट पर मोरपंख गर्वयुक्त आनन्द से फहरा रहा था, उसके स्वरूपवान मुख पर प्रभाव और उसके स्वर में मोहक सत्ता थी।

गौरी सब कुछ भूल गई। उसको एक ही पुरुष दिखाई दिया! सेनाजित—उल्लास, सत्ता और शौर्य का अवतार—उसका प्रणयी! उसके नेत्र स्थिर थे। वह सेनाजित का स्वस्थ रूप आँखों में—अन्तस्थल में—मढ़ने लगी।

जब वह नरेन्द्र के प्रेक्षागृह में अदृश्य हो गया तब उसने आँखें मींचकर काल्पनिक रंगों से अंकित उस स्वरूप को देखने लगीं।

वह प्रेक्षागृह में गई।

चारों ओर लोग भर गये थे। सामान्य लोगों का ठट्ठ सामने बैठा था।। शंखनाद हो रहा था।

सब शान्त हो गये।

सरस्वती के मन्दिर के सम्मुख वक्रनास और घननंद और दूसरे दो व्यक्ति आये। सरस्वती का पूजन कर बकरे का बलिदान दिया।

लोगों ने जय-जयकार की। बन्दीजनों ने यशगान गाये। ब्राह्मणों ने आशीर्वचन कहे। नरेन्द्रदेव और वक्रनास फिर अपने गृह में आये और वाद्ययंत्र बज उठे, शंखनाद हुआ और फिर निस्तब्धता छा गई।

दो गदाधारी, सामान्यतः दस आदमी जिसे उठा सकें, ऐसी मोटी गदा लेकर आये। यह मगध के दो विश्वविख्यात गदाधारी थे।

उनका द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। दो नालिका तक समस्त जन-समूह एकाग्रता से एकटक देखते रहे। दोनो महारथियो ने कल्पना न की जा सके ऐसा युद्ध किया, लेकिन फिर भी दोनो में से किसी को आँच न आई। नरेन्द्रदेव अपनी शक्ति की प्रशंसा आंभि से कर रहे थे। अन्त में उन्होंने आज्ञा दी और दोनों गदाधारी प्रणाम कर चले गये। नंद ने उन्हें इनाम दिया और लोगों ने जय-जय के शब्दो से उन्हें बधाई दी।

फिर वाद्य बजे और लोगों में कोलाहल शुरू हुआ। भोजन तैयार था। नरेन्द्रदेव, आंभि और वक्रनास भोजनार्थ अंतःपुर के प्रेक्षागृह में गये।

संनिधाता अपने प्रेक्षागृह में भोजनार्थ आये। सुनेत्रा के पति को मैनाकी ने अपने यहाँ भोजन पर आमन्त्रित किया। सब खाने बैठे। गौरी को आशा थी कि सेनाजित आयेगा, लेकिन उसे याद हो आई कि नरेन्द्रदेव के भोजन के समय अतःपुर के सेनाध्यक्ष का वहाँ उपस्थित रहना आवश्यक है। आशा नष्ट हुई। सामान्य लोगों को राजकीय पकवान खाकर प्रसन्नता का वारापार न रहा।

फिर वाद्य बजे और लोग अपने-अपने स्थान पर आ बैठे। नरेन्द्रदेव और आंभिकुमार भी अपने स्थान पर आये। संनिधाता उनके पास गये। सुनेत्रा और उसका पति अपने प्रेक्षागृह में गये।

गौरी मैनाकी के साथ अकेली थी और श्रद्धा से इस दैदीप्यमान अप्सरा को निरख रही थी। मैनाकी देख-देखकर, बार-बार किसी न

किसी का गौरी को परिचय देती जाती थी और साथ साथ कुछ समझाती भी जाती थी।

'उस गृह में कौन है?' गौरी ने एकाएक पूछा।

'वह वेश्या का प्रेक्षागृह है—कोशा का—'

'हाँ, मैंने पहचाना।' गौरी ने निःश्वास के साथ कहा उसे उसके भाई की याद आई।

'यह सीताध्यक्ष है।' मैनाकी ने कोशा के पास बैठे राजपुरुष का परिचय देते हुए कहा, 'वह कहाँ से? ऐं! यह तो वही है जिसे नरेन्द्र-देव ने कोशा को सौंपा है।'

लज्जा से गौरी ने नीचे देखा। कोशा ने भी उसी समय मैनाकी और गौरी को देखा और एक दासी को बुला कुछ संदेशा भेजा।

अभी नाट्य प्रयोग आरम्भ न हुआ था, अतएव वह दासी चौगान को पारकर मैनाकी के प्रेक्षागृह की तरफ आई। थोड़ी देर बाद मैनाकी की एक दासी अपनी सेठानी के पास आई।

'देवी! बाहर एक दासी गौरी देवी से संदेश कहने आई है।' गौरी ने सोचा शायद सेनाजित ने कुछ संदेशा भेजा होगा। वह सहर्ष उठी।

'जा।' कुछ समझकर मैनाकी ने कहा।

गौरी पिछले द्वार से गई। कोशा की वह दासी खड़ी थी। 'क्या है?' गौरी ने अधीरता से पूछा।

'देवी! अपने भाई को खोजने जिसके यहाँ आप गई थी उसने एक प्रार्थना की है—'

'कौन कोशा?'

दासी ने मुख पर उँगली रक्खी। 'हाँ, आपने जिस प्रकार उससे याचना की थी वैसी ही आज वह कर रही है।'

'क्या?'

'उसे मैनाकी देवी से मिलना है।'

'अर्र् ! लेकिन···'

'कौन मिलना चाहता है ?' मैनाकी ने पूछा। दासी ने मैनाकी को पहचानकर प्रणाम किया।

'कोशा।'

'भेज दे !' मैनाकी ने आज्ञा दी, 'और इस पीछे वाले खण्ड में बैठने को कहना।'

गौरी आश्चर्यचकित हो गई ! मैनाकी जैसी प्रतिष्ठित स्त्री कोशा से मिलेगी ? उसे मालूम न था कि मैनाकी अब राजनीति का पाठ पढ़ रही है। थोड़ी देर में फिर शंखनाद हुआ और लोग शान्त हो गये। अँधेरा होने लगा था ! मन्दिर के चौतरे पर पाँच सौ मशालची मशाल ले गर्भद्वार के दो तरफ़ खड़े थे।

इन दोनों के बीच के खाली स्थान पर 'दक्षयज्ञ' का नाटक शुरू हुआ। लोग एकाग्रचित्त से देख रहे थे।

सूत्रधार ने नान्दीपाठ किया।

एक दासी ने आकर मैनाकी के कान मे संदेशा कहा। वह उठी और गौरी से वहीं बैठने को कह बग़ल वाले खण्ड में गई। देखा कोशा सामने खड़ी थी।

'देवी क्षमा ! मेरे जैसी स्त्री को आपके पास आने का अधिकार नहीं है, लेकिन दुःख की मारी आई हूँ !' गद्गद् कण्ठ से उसने प्रणाम करते हुए कहा।

मैनाकी कठोरता से देखती रही।

'देवी ! आप जानती होंगी, मुझ हत्‌भागिनी का भाग्य ही फूटा है।'

'क्या है ?'

'स्थूलभद्र चले गये।' कोशा की हिचकी बँध गई।

मैनाकी बोली नहीं।

'और मुझसे राजाज्ञा का उलंघन नहीं हो सकता, नहीं तो

प्राणदण्ड निश्चित है। नरेन्द्रदेव ने सीताध्यक्ष को मेरे लिये भेजा है।'

मैनाकी तिरस्कार से चुप रही।

'मुझे बचाइये! मैं पतित हूँ—लेकिन मानव जाति की हूँ—स्त्री हूँ। देवी! आप स्त्री हैं। मैं क्षुद्र हूँ लेकिन मेरी विपत्ति टालिये। नरेन्द्रदेव से अपने पति द्वारा आज्ञा रद्द करने को कहिये। संनिधाता की बात नरेन्द्रदेव मानेंगे। स्थूलभद्र के सिवाय मेरे लिये सब त्याज्य है।'

'यह मेरा काम नहीं।' पीठ फेरकर मैनाकी ने कहा।

'देवी! देवी!' कोशा पैरों में लोट गई, 'आपके अतिरिक्त और कोई कुछ नहीं कर सकता। मेरा जीवन, मेरा व्यापार - श्वास और प्राण सब निष्काम बने हैं। मेरी सहायता कीजिये। मेरा उद्धार कीजिये!'

मैनाकी ने अभिमान से गर्दन ऊँची की। पतित स्त्रियों के पीछे दौड़ने का उसका काम न था। उसने चलने के लिये क़दम बढ़ाया था कि एकाएक उसके मस्तिष्क में विचार आया। उसकी आँखें चमक उठीं। वह फिर लौटी—'कोशा! नरेन्द्रदेव न मानेंगे तो क्या करेगी?'

'सीताध्यक्ष का प्राण लूँगी या अपना दे दूँगी।' कोशा ने दृढ़ता से कहा।

'नरेन्द्रदेव से तू क्यों नहीं मिलती?'

'मिली थी, लेकिन अस्वीकार किया। वक्रनास ने मजाक़ उड़ाया।'

'तब वह नहीं मानेंगे।' मैनाकी ने कहा।

'कुछ मार्ग बताइये!'

'एक आदमी ही मार्ग बता सकता है। मेरी बुद्धि काम न देगी।'

'कौन?'

'शकटाल के यहाँ आचार्य विष्णुगुप्त आये हैं, उनसे पूछ। कहते हैं, वह सर्वशास्त्र-विशारद हैं।'

मैनाकी चली गई। कोशा जड़वत् देखती रही। उसने निःश्वास छोड़ी और वहाँ से भारी हृदय ले लौटी।

मैनाकी गौरी के पास गई तब वह अपने मन में मटक रही थी कि अब मै राजनीति में प्रवीण होने लगी हूँ।

६२

मैनाकी लौट आई और थोडी देर में सेनाजित आया। गौरी का अन्तर हँस उठा।

रंगभूमि पर शंकर-पार्वती प्रेमालाप कर रहे थे। चारो ओर सुवास प्रसरित थी। मशालो के कोमल तेज से प्रेक्षागृह में रमणीय-वाहर के कोमल प्रकाश से मोहक अन्धकार फैला हुआ था। सेनाजित आया और उसने मुकुट उतारकर दूर रखा। उसकी आँखें नाच रही थीं। मैनाकी के वस्त्रो से सुसज्जित गौरी को निरख वह कुछ क्षण तक मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा रहा और फिर वहाँ आकर वातें करने लगा। मैनाकी चतुर थी। उसने दोनों को ज़रा हँसाया और सोने का वहानाकर दूसरे खंड मे चली गई। दो प्रणयी एकाकी थे।

दोनों मे से कोई भी न बोल सका। बाहर पार्वतीजी आर्तक्रन्दन कर रही थीं।

सेनाजित ने बातें करना आरंभ की। उनके विवाह में पडे विक्षेप और अपनी आशाओं की बातें उसने की। गौरी ने अपनी विषमता सामने रखी। पिताजी के हठ विषयक दो शब्द कहे। सेनाजित ने आचार्य का उल्लेख किया। गौरी के मुँह से निकल पड़ा: 'वह आचार्य ही विक्षेप रूप हैं।'

बेचारी निर्दोष गौरी ने जो न कहने का था वह भी कह डाला। सेनाजित का भ्रूभङ्ग हुआ।

'वही बीच में आते हैं। उनकी इच्छा तुमसे विवाह करने की है।'

गौरी क्या कहे, वह नीचे दृष्टि किये खड़ी रही।

सेनाजित के मुख से विष्णुगुप्त के प्रति अनर्गल शब्द निकलने लगे।

गौरी को भी इन बातों से विश्वास हो गया कि यदि वह न आये होते तो यह सब बाधायें खडी न होतीं।

थोड़ी देर तक दोनों मौन रहे। आचार्य ही दोनों के बीच व्यवधान रूप हैं, ऐसा विश्वास हो गया। गौरी सेनाजित की मीठी भावनापूर्ण स्वर-लहरी से बेसुध होकर प्रणयोन्मत्त हो गई। सेनाजित गौरी की उपस्थिति से विक्षिप्त-सा हो गया, उसे अपने कर्त्तव्य का भी स्मरण न रहा। अनिश्चित भावी की चिन्ता करते-करते दोनों 'दक्ष-यज्ञ' देख रहे थे। कभी-कभी दूसरी बातें भी हो जाती थीं। बड़ी देर तक दोनों मौन बैठे रहे, एक दूसरे को प्रणय-उष्मा से सचेत करते जाते थे।

सेनाजित ने अपने कर्त्तव्य की परवाह न की। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा? और फिर हाथ से निकलती गौरी दृष्टि के सम्मुख थी, ऐसे वातावरण में—एकान्त में। वह वहीं बैठा रहा। रात्रि बीतने लगी। दोनों को समय की गति का आभास न था। सेनाजित रात्रि को नगर में अपने यहाँ जाने का संकल्प भूल गया था। अपने यहाँ पड़े क्षुधित कैदी की कौन परवाह करता?

मध्यरात्रि व्यतीत हुई। कितने ही प्रेक्षागृहों में लोग सोने लगे, कितने ही पृथ्वी पर बैठे हुए लम्बे होने लगे, नटों का स्वर क्षीण पड़ गया, मशाल का प्रकाश निस्तेज होने लगा।

नाटक के रसिक भी ऊँघने लगे। लेकिन गौरी और सेनाजित

की बातें चल रही थीं। दोनो में से किसी को भी नींद आती न दीखती थी।

मैनाकी जहाँ सो रही थी उसी खंड में से एक युवा बाहर निकला और अन्धकार में आगे बढ़ा।

उसे एक दूसरा पुरुष मिला। थोडी दूर तक चलने पर दोनों दो तैयार खडे घोडों पर चढ़कर चले गये। सब लोग आनन्द से भोजन-कर सुख से निद्रा ले रहे थे, या नाटक देख रहे थे। किसी ने भी उनको न देखा।

उन दोनों पुरुषो ने नगर की ओर घोडे दौड़ाये। गुप्त संकेत का उच्चारण करने पर पहरेदारों ने द्वार खोल दिये और वह दोनों संनिधाता के प्रासाद की ओर टेढ़े मार्ग से आगे बढ़े।

थोडी दूर पर एक आदमी खडा था उसके हाथों में उन्होंने घोड़े सौंप दिये और उत्सुकता से दोनों संनिधाता के गुप्तद्वार की ओर गये। एक दासी ने तत्काल कपाट खोलकर उन्हें अन्दर कर लिया।

सवेग ऊपर चढ़ते समय दोनों ने सुकेतु को देखा।

'सुकेतु!' इनमें से एक ने कोमल स्वर में आवाज़ दी।

'सब ठीक हो गया। कुमार अन्दर हैं।'

'और आचार्य!'

'इस खंड में अभी आयेंगे।' सुकेतु ने कहा। कोमल स्वर में पूछने वाला अधीरता से दौड़ता हुआ अन्दर के खंड में गया। संनिधाता के प्रासाद के एक सुशोभित प्रकोष्ठ में एक पुरुष खड़ा था। नवागन्तुक को देखकर वह फिरा और हँस पड़ा। हर्ष से उसने हाथ बढ़ा दिये, 'मैनाकी।'

नवागन्तुक एक ही छलाँग में उसके हाथों में जा पडा।

पुरुष कदावर और सशक्त था। उसकी आँखें निर्मल और विश्वास

और साहस से चमक रही थीं। उसके घुँघराले बाल उसके ललाट और स्कन्ध पर नाच रहे थे।

सेनाजित के तहखाने में यही व्यक्ति निस्तेज दीखता था, इस समय वही उत्साह विभोर था। उसने ऊँचे स्वर में कहा, 'अन्त में तूने मुझे छुडा ही लिया। 'मुझे विश्वास था कि तू मेरे बिना न रह सकेगी।' उसने मैनाकी को ज़ोर से दबाया। मैनाकी सुख-लहरी का अनुभव कर रही थी। उसने आँख मूँदकर अपने को चिपटा दिया।

'कुमार,' थोडी देर बाद मैनाकी ने कहा। 'मुझे आपके बग़ैर दिन काटने हंगे, क्योंकि आपको तत्काल पाटलिपुत्र छोड़कर चले जाना होगा।'

कुमार हँसा और मैनाकी को ले जाकर पलंग पर बैठाने लगा। मैनाकी उसके हाथ से छूटकर सामने खडी हो गई। 'कुमार!' उसने कहा, 'अभी-अभी आपको यहाँ से चले जाना है।'

कुमार हँसा, 'तुझे जो करना हो वह कर, मैं यहाँ से खिसकने का नहीं।'

'मैनाकी गम्भीर हो गई, आप मज़ाक छोड़ दीजिये' आपको छुड़ाने में मुझे कितना दुःख सहन करना पडा है!'

'आखिर में छूट ही गया न?' पैर पर पैर चढ़ा निश्चिंत हो कुमार ने कहा।

मैनाकी ने क्रोध से पैर पटककर कहा 'उससे क्या हुआ? ज़रा सुनो तो सही!'

'रात बहुत थोड़ी रह गई है, नहीं तो तुझे सुनने को मैंने किसी दिन इन्कार किया है?'

'कुमार!' मैनाकी ने गम्भीर होकर कहा, 'बहुत मज़ाक हो गया! सुनिये, शेष आपके सम्बन्धी हैं इसीलिये वह जब तक यहाँ हैं, तब तक के लिए नरेन्द्र ने आपको बन्दी रखा था। लोगों को यह

विश्वास है कि आप आखेट खेलते-खेलते प्राग्ज्योतिष निकल गये हैं। इतने में यहाँ महादेवी के भाई आंभिकुमार आ पहुँचे। परसों आंभिकुमार और शेष नगर छोड़ देंगे।'

'हाँ,' कुमार ने मैनाकी की बात समझने का प्रयत्न करते हुए कहा, 'उससे मुझे क्या?'

'नरेन्द्र आप पर, मुझ पर, आंभि पर और शेष पर अत्यन्त क्रुद्ध हैं। आप यहाँ रहेंगे तो आपका जीवन खतरे में पड़ जायगा।'

कुमार हँसा, 'मैं तो जन्म से ही खतरा उठाता रहा हूँ।'

'सुनो तो सही!' अधीरता से मैनाकी ने कहा। मैनाकी की अधीरता देख कुमार गंभीर बन गया। मैनाकी ने आगे कहना शुरू किया, 'किसी तरह से भी आपका पता न लगता था। अन्त में मैं आंभिकुमार के आचार्य के पास गई।'

'कौन विष्णुगुप्त—जो पैदल शकटाल के यहाँ गया था!'

मैनाकी चौंक उठी। उसने पूछा, 'आपने कैसे जाना?'

'मुझसे सेनाजित ने कहा था। वह विष्णुगुप्त क्या शकटाल का शिष्य तो नहीं है? तक्षशिला के किसी आचार्य का पुत्र—छोटा-सा ही है,' हँसकर उसने कहा 'मेरे जैसा।'

मैनाकी के आश्चर्य का पारावार न था। 'आप कब से जानते हैं?'

कुमार ने स्मरण-शक्ति स्वच्छ करते हुए कहा, 'मुझे याद है। मैं बहुत छोटा था तब वह लड़का मुझे नदी के उस पार मिला था। क्या करता था वह मालूम है? वह वहाँ की सब कुश का मूलोच्छेदन कर रहा था। मैंने पूछा कि इतने कुश क्यों उखाड़ रहे हो? उसने उत्तर दिया कि 'एक बार समिध[1] इकट्ठा करते समय मेरे पैर में लग गई थी, तभी से यह सब कुश उखाड़ डालने का मैंने संकल्प किया है।' मैंने उसे पागल समझकर कहा, 'यह क्या पागलपन सवार हुआ है?'

---

[1] हवन की लकड़ी।

मालूम है ? उसकी आँखें भयंकरता से स्थिर हो गई थीं ! निश्चल शांत स्वर में उसने मुझसे कहा, 'लड़के ! चला जा। मेरे बीच में पड़ने से ठीक न होगा।' मैं उससे एक हाथ ऊँचा था, दसगुना सबल था लेकिन मेरे हृदय में उसकी धाक बैठ गई थी। मैंने यह भी सुना था कि वह महान् विद्वान् है। फिर वह अपने देश चला गया और फिर क्या हुआ यह मुझे मालूम नहीं। वही विष्णुगुप्त होगा यह।'

मैनाकी के स्वर में भी भयभीत गाम्भीर्य था, 'कुमार ! वही विष्णुगुप्त हैं। ऐसे विष्णुगुप्त दो नहीं हो सकते और उनकी आज्ञा है कि आप अभी यहाँ से चले जायँ।'

'मैनाकी ! क्यों परेशान हो रही है ? ऐसे दस सहस्र आचार्य मुझे इस समय इस घर से बाहर नहीं निकाल सकते। ऐसा वह कौन हो गया है जिसकी मैं आज्ञा मानूँ ?'

'कुमार ! कुमार ! आप उनसे मिले नहीं हैं, इसीलिये ऐसी बात कर रहे हैं ! शेष जैसा वीर पुरुष उनको अपना पूज्य मानता है। सिद्धाचार्य क्षपणक जैसा भयंकर व्यक्ति उनकी पाद-सेवा करता है। यम का भी जिसे भय नहीं, ऐसा शकटाल भी शिशु सदृश उसकी आज्ञा मानता है। इस समय वक्रनास भी काँप रहा है, और कल नरेन्द्र की सत्ता डाँवाडोल होगी और वह यहाँ से प्रयाण करेंगे।'

कुमार का हास्य अविश्वस्त था, 'पगली ? तुझ पर भी उसने मंत्र फूँका है।'

'नहीं', मैनाकी ने कहा, 'उन्होंने मेरी परीक्षा की। मैं आपके लिए घर-बार, मान-प्रतिष्ठा छोड़ने को तैयार हूँ या नहीं, इसे कसौटी पर कसा। उन्होंने मुझे मार्ग-प्रदर्शन किया है।'

'मुझे निर्वासित करना है ?' अविश्वास से सिर हिलाकर कुमार ने कहा।

'हाँ।'

'किस लिये ?'

'आपको फिर लौटाने के लिये।'

'किस प्रकार ?'

मैनाकी क्षण भर गम्भीरता से देखती रही, 'आपको मगध के सिंहासन पर बैठा कर।'

कुमार चौंक उठा। उसकी बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गईं। वह फिर अविश्वास से हँसा, 'तेरा आचार्य किस प्रकार से मुझे मगध के सिंहासन पर बैठायेगा ?' कुमार ने गर्दन घुमाई।

'शकटाल और मै यहाँ, आचार्य और आप विदेश में, इन दोनो के बीच में धननंद की सत्ता और प्रताप कुचल जायगा।'

कुमार हँसा, 'मैनाकी! आखिर तू स्त्री की स्त्री ही रही। तू घर में बैठे-बैठे धननंद की सत्ता का क्या अनुमान लगा सकती है ? तुझे खबर है कि भारत के युद्ध मे जितनी अक्षौहिणी सैन्य था उससे तिगुना वह समरांगण में ले जा सकता है ? मै उसका एक सेनानायक हूँ। मै उसका बल जानता हूँ।'

कुमार के आगे कहने से पहले ही सुकेतु ने आकर कहा, 'कृपानाथ! आचार्य आये हैं।'

कुमार ने द्वार पर देखा। उसको आज्ञा देने की आवश्यकता न थी। वर्षों पहले कुशा का मूलोच्छेदन करनेवाला, शकटाल का शिष्य, अवस्था से अधिक प्रतापी व्यक्तित्व प्रदर्शित करता हुआ द्वार पर खड़ा था।

कुमार के स्वर में क्षोभ था।

'कौन विष्णुगुप्त ?'

अमानुषी तटस्थता से उत्तर आया, 'चन्द्रगुप्त मौर्य! हाँ, मैं वही।'

आचार्य ने खण्ड में पदार्पण किया।

२७

आचार्य थोड़ी देर तक देखते रहे। उनके सामने चन्द्रगुप्त आश्चर्य से देख रहा था। अन्त में धीरे से आचार्य ने कहा, 'कुमार! मैनाकी को न मालूम हो पर मुझे है। कुल मिलाकर दस अक्षोहिणी सैन्य हैं, लेकिन तुझे मालूम नहीं। तक्षशिला, कम्बोज और क्षुद्रक माल्लव आज तेरे हाथ में हैं। कल सवेरे काशी तेरा होगा। आचार्य शकटाल और सिद्धाचार्य क्षपणक मगध के घर-घर में ज्वाला प्रकट कर रहे हैं।'

'लेकिन मुझे सिंहासन पर—यह क्या?'

'मैं कहता हूँ। तेरा सुकेतु जानता है। इस मैनाकी को विश्वास है।'

चन्द्रगुप्त हँसा, 'आचार्य! आप भी क्या कह रहे हैं? ऐसे कहीं नंदों का राज्य जा सकता है?'

'कैसे जान लिया कि नहीं जायगा?'

चन्द्रगुप्त मौन रहा। हँसकर उसने पूछा, 'ऐसा न हो तब?'

'ऐसा क्यों न होगा इसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता,' आचार्य ने गम्भीर होकर कहा।

'अरे, लेकिन...' कुमार ने कहा, 'मै तो ठीक तरह से सोच सकता हूँ। आपकी क्या इच्छा है? मैं तो खा-पीकर मौज करता हूँ, यह सब छोड़कर शशशृंग खोजने निकलूँ?'

'अरे कुमार!' मैनाकी ने कहना चाहा पर आचार्य की दृष्टि स्थिर हो गई और उस निश्चल स्थिरता को देख वह चुप रह गई।

'मौर्य! अनेक बार शशशृंग ढूँढ़ने में महत्ता होती है। इस समय तू पराधीन है, आश्रित है। तुझे कब मार डालें इसका भी तुझे पता नहीं। मैनाकी तुझसे कब बिछुड़ जाय यह कहा नहीं जा सकता।

और यदि मेरा शशश्रृंग प्राप्त होगा तो मगध का सिंहासन, मैनाकी का हाथ और सनातन यश तीनों की प्राप्ति होगी।'

'मैनाकी का हाथ!' मौर्य ने चौंककर मैनाकी की ओर देखा।

मैनाकी का तेजस्वी मुख गर्व और लज्जा से आरक्त हो गया। उसने सुकेतु की तरफ देखा। सुकेतु उत्साह से हँस रहा था।

'हाँ,' आचार्य ने कहा, 'मैनाकी के ग्रह प्रतापी हैं। उसके ललाट पर मगध का महादेवीपद लिखा है।'

कुमार हँसा, 'लेकिन मेरे ललाट पर मगधराज होना कहाँ लिखा है?'

'जब मेरी आज्ञानुसार चलोगे तब।'

'क्या आज्ञा है?'

'अभी सुकेतु के साथ जा। वह तेरे केश मूड तुझे भिक्षु का वेष पहनायेगा। सूर्योदय के समय कामंदक-पुत्र यश गौतम-निवास से नदी पारकर वैशाली जाने वाला है उसके साथ वैशाली जा।'

चन्द्रगुप्त की आँखें उपहास कर रही थीं। वह मन ही मन हँसता रहा। उसने पूछा, 'फिर?'

'वैशाली में मैनाकी का अनुचर तुझे शस्त्र और अश्व देगा।'

'फिर?'

'उसे ले नैमिषारण्य में प्रमंडक के आश्रम में जाकर मेरी प्रतीक्षा करना। मैं भी कल तक यहाँ से निकलकर वहाँ आ जाऊँगा।'

चन्द्रगुप्त एकदम खिलखिलाकर हँस पड़ा। उससे हँसा न गया, वह झूले पर जा बैठा।

मैनाकी और सुकेतु घबराहट से और आचार्य कठोरता से उसकी ओर देख रहे थे।

आचार्य ने पूछा, 'तुझे यह सब प्रपंचमात्र दीखता है?'

'तो आपने मुझे बच्चा ही समझ रखा है?' कुमार ने पूछा।

'नहीं, मूर्ख समझ रखा है। अधम गण्य पुरुष के सम्मुख मैं अवनि में अप्रतिम ऐसा साम्राज्य रख रहा हूँ और वह मतिमन्द अस्वीकार करता है। चन्द्रगुप्त ! तू मुझे ठीक प्रकार से पहचानता है। तुझे मेरा मिथ्यावाद लगता हो तो तेरा दुर्भाग्य।'

'मेरा दुर्भाग्य किस लिये ? मैं धननन्द के राज्य में उत्पन्न हुआ हूँ, [illegible]। वह राज्य करता है, मैं मौज करता हूँ।'

'इसी कारण से कायर बनता है ? तो समझ ले मौर्य ! कि तेरा पितामह कुमारगुप्त शिशुनाग महानन्दी का औरसपुत्र था। मुरा दासी का पुत्र नहीं।' आचार्य ने कहा।

चन्द्रगुप्त आँखें फाड-फाड़कर इन शब्दों के अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ-सा देखता रहा !

मैनाकी क्षण भर तक देखती रही, फिर उठकर चाणक्य के सम्मुख आई। उसका तेजस्वी मुख जिज्ञासा और उत्साह-तप्त सुवर्ण के समान ज्वलंत था।

'कौन ? कुमारगुप्त महानन्दी के औरस पुत्र ?'

'क्या कहते हैं?' निशक्त स्वर से चन्द्रगुप्त ने कहा।

'देख, सवेरा होने वाला है और समय नहीं है। तू दासी पुत्र है यह भूल जा। तेरे पितामह कुमारगुप्त महानन्दी की महादेवी सुभगा के पुत्र थे।

'कैसे जाना ?' मैनाकी ने पूछा। इस प्रश्न के उत्तर में निहित गाम्भीर्य ने उसके मुख को आरक्त कर दिया।

'आर्याश्रेष्ट ! जो मै जानता हूँ वह कोई नहीं जानता।' आचार्य ने शान्तिपूर्वक कहा, 'मगधपति महानंद को उनकी प्रिय शूद्रा के पुत्र उग्रसेन ने मरवा डाला, यह बात सर्वविदित है।'

चन्द्रगुप्त देख रहा था। मैनाकी ने अधीरता से पूछा, 'फिर ?'

'पितृलोक में विचरण करनेवाले महात्मा द्वारा वरण की हुई

वसुन्धरा का अधिपति होने के लिये उग्रसेन उत्सुक था और उसी ने शिशुनाग वंश का विध्वंस किया। यह बात किसे नहीं मालूम ?'

'मैंने सुनी है।' मैनाकी ने कहा।

'मौर्यवर्य !' आचार्य ने कहा 'जब शूद्रापुत्र उग्रसेन ने महापद्मनंद का नाम धारणकर पृथ्वी को फिर से सनाथ किया तब पति-वियोग से दुखी महादेवी सुभगा शिशुनाग की कीर्ति का बीजरूप तेजस्वी गर्भ धारण किये हुए थी।'

'ऐं !' चन्द्रगुप्त को जिज्ञासा हुई।

'बात सुन !' आचार्य ने कहा, 'कृतांत महापद्म कहीं पुत्र रूप में अवतरित इस दूसरी बीज का भी विनाश न कर डाले इस भय से महादेवी ने दुखित हो अपनी प्यारी दासी मुरा को उसे सौंपा।'

'फिर ?'

'सुन ? वह पुत्र था कुमारगुप्त मौर्य महानुभाव—तेरे पितामह। अतएव क्षत्रियकुल उद्धारक मौर्य। शंका त्याग कर्त्तव्यारूढ़ हो।'

आचार्य के बोलने के बाद बहुत देर तक स्तब्धता छा गई। चन्द्रगुप्त आँखों पर हाथ रखकर बैठा था। यह बात सच है या झूठ, यह जानने का भी साहस उसमें न था। उसके तेजस्वी स्वभाव को यह बात हमेशा खटका करती थी कि वह महानंद के दासीपुत्र का पौत्र है। क्या यह कलंक झूठा है ? क्या शिशुनाग-कुल का भूषण महानंद का वह प्रपौत्र है ? क्या वह स्वयं क्षत्रिय है ?

वह स्वयं अधम है, इस मान्यता के कारण वह अधमता से उद्धार पाने का प्रयत्न नहीं करता था और नंद की महत्ता के सामने सिर झुकाता रहा। इस समय क्षणमात्र के लिये उसे अपना प्रताप और नंद का निर्माल्य—दोनों को अपनी-अपनी पराकाष्ठा पर देखा। अभी तक वह स्वयं कुलहीनता के गर्त में खड़ा-खड़ा श्रद्धा और पूज्यभाव से नरेन्द्र कुल के गिरिशृंग पर अधिष्ठित धननंद को देख रहा था। अब दोनों

स्थान उलट गये थे। वह व्योमस्पर्शी गिरिराज पर से नीचे खड़े नरेन्द्र को देख रहा था। वह स्वयं शिशुनाग क्षत्रिय—कुलोद्धारक है।

'आचार्य !' अन्त में उसने पूछा, 'यह बात सच है, इसका क्या प्रमाण ?'

'अल्प श्रद्धा में आनन्द मानने वाले ! महापद्म को अपनी विद्या से सहायता करने वाले बाल्हिकाचार्य ने उस समय अपने बुद्धि-कौशल से ही इस योजना का निर्माण किया था। उन आचार्यवर्य के मुख से सुननेवाले उनके पौत्र आचार्य शकटाल यहीं हैं। सुकेतु! गुरुदेव को बुला ला।'

सुकेतु गया। कोई न बोला। थोड़ी देर में सुकेतु अंध शकटाल को सहारा देकर लाया। आचार्य विष्णुगुप्त, मौर्य और मैनाकी हाथ जोड़ कर खड़े रहे।

'गुरुदेव !' विष्णुगुप्त ने कहा, 'मौर्य को अपनी जन्मकथा पर विश्वास नहीं।'

शकटाल के होंठ थोड़ी देर तक काँपते रहे। उन्होंने कर्कश आवाज से कहा, 'मौर्य ! तू महाराज महानन्द का प्रपौत्र है, इसमें कुछ भी संशय नहीं।'

जैसे कोई शव चिता में से सहसा खड़ा हो गया हो ऐसी घबराहट से चन्द्रगुप्त ने भयानक मन्त्री को देखा। 'आपको,' उसने अन्त में पूछा, 'कौन—बाल्हिचार्य ने कहा था ?'

'हाँ।' शकटाल ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'गुरुदेव ! गुरुदेव !' चन्द्रगुप्त ने विचलित होते हुए कहा, 'आप और विष्णुगुप्त मुझे बना रहे हैं। आचार्य ! मुझसे कहिये, ठीक बात क्या है ? अब सत्यान्वेषण के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता।'

'तुझे प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिये ! कुमारगुप्त को मुरा दासी के पास ले जाने वाले बाल्हिकाचार्य मुनि के शिष्य उद्दालक अभी नैमिषारण्य में तपस्या कर रहे हैं।'

'मुनि उद्दालक !' चन्द्रगुप्त ने पूछा ।

'कुमार !' धीरे से आचार्य विष्णुगुप्त ने कहा, 'कामंदक का पुत्र यश जाने की तैयारी कर रहा होगा । अब यहाँ से चलो ।'

चन्द्रगुप्त आचार्य के सामने आँखें निकाल कर घूर रहा था । 'आपकी इच्छा मुझे नैमिषारण्य भेजने की है क्या ?'

'हाँ !' आचार्य ने कहा ।

'यदि मुनि उद्दालक न मिले तो – '

'तो वापस आने के लिये तुझे कोई नहीं रोकता है ।'

'आचार्य ! आचार्य !' अधीरता से विष्णुगुप्त की ओर हाथ कर मौर्य ने कहा, 'आपने ही यह तूफान रचा है, लेकिन किस लिए यह बतायेंगे ? इस पुराने किस्से को उगलने का तात्पर्य क्या है ? आप विदेशी हैं । इस प्रपंच में मुझे पीस डालने को आप क्यो प्रस्तुत हैं ?'

'तुझे पृथ्वीपति बनाना है ।'

'लेकिन इस परमार्थ का कारण क्या है ?' कटुता से चन्द्रगुप्त ने पूछा, 'इस मैनाकी को क्यों हाथ में लिया ? इतने वर्षों बाद इस वृद्ध मन्त्री से रहस्योद्घाटन क्यों कराया ? कौनसी व्यूह-रचना में मुझे ढकेलना है ? आचार्य ! किस लिये ?'

'किस लिये !' आचार्य विष्णुगुप्त ने कहा । उनके अधर ज़रा काँप उठे, 'मेरा स्वार्थ है ।'

'क्या स्वार्थ है ?'

'मेरा स्वार्थ ? हाँ, है । इस समय पृथ्वी का आधिपत्य जो इस दुष्ट शूद्र—धननंद के हाथ में है उसे छीनकर तेरे—क्षत्रिय के—हाथ में देने का ।'

'आपको अमात्यपद लेना है, यों कहिये न !' चन्द्रगुप्त ने कटाक्ष किया ।

'हाँ, लेकिन मुझे उस पद की लालसा नहीं। तक्षशिला का अमात्य-पद मेरे पिता का है, वह कालक्रम से मेरा होगा। चाहूँ तो वक्रनास का पद प्राप्त कर सकता हूँ, लेकिन गुरुदेव के सामने देख! शेष जैसे को भी भारस्वरूप ऐसे अमात्यश्रेष्ठ शकटाल की यह दशा देखकर किस मूढ़ को उस पद का मोह रहेगा?'

'तब वह लोभ ही क्यों रखते हैं?'

'कारण कि उस पद को लेनेवाला राजत्व का अग्निहोत्री बनता है। कुमार! राजत्व भी वैश्वानर है। वह जलता है और जलाता है, पोषण करता है और पुनीत करता है, विध्वंस करता है और सृजन करता है। उसे जो पाता है वह उसके प्रताप से तपता है फिर भी उसीके द्वारा मोक्ष-प्राप्त करता है और दूसरों को भी कराता है।'

'धननंद का राजत्व वह वैश्वानर और वक्रनास उनका अग्नि-होत्री! हा, हा!' चन्द्रगुप्त ने फिर कटु अट्टहास किया।

'नहीं, वह राजत्व वैश्वानर नहीं, बडवानल है। उसके होता ने उसे संस्कारों को मर्यादा, धर्मपोषण और विद्या की प्रेरणा नहीं दी। उसमें देवत्व नहीं।'

'और हममें वह देवत्व आ जायगा!'

'हाँ, जब वह वह्नि मैं हाथ में लूँगा तब मर्त्यों में देवत्व का प्रवेश होगा। उस समय न तो मुझे राज्य-सुख प्राप्त होगा और न मुझे विजय-सुख!' आचार्य के स्वर की गम्भीरता क्षीण हो रही थी। स्वस्थ होने पर भी उनके मुख पर हृदय में स्थित क्रोधाग्नि का तेज दीखने लगा।

'फिर इस तरह अन्धकार में भटकने की क्या आवश्यकता है?'

'मौर्य! उस पावक की स्थापना मेरे संकल्प की सिद्धि है—वही मेरा स्वार्थ है।' वह रुके। उनके स्थिर नेत्रों में अन्तस्थल में छिपी अग्नि-शिखायें धधक उठी थीं। उनके स्वर में सर्वभक्षी अग्नि की विनाशक गर्जना का प्रतिशब्द था। वह सदैव शान्त और गम्भीर

दीखते थे, लेकिन इस समय अशान्त—तेजोमय वैश्वानर की मूर्ति जैसे दीखे; और उनके व्यक्तित्व में से प्रदीप्त भावनाओं के शब्द-स्फुलिंग उड़ने लगे, 'उस संकल्प-सिद्धि का दर्शन करना है !'

कोई न बोला। आचार्य ने आँखें मींच ली। वह स्वप्नलोक में विचरण करने लगे। अपने जीवन-सर्वस्व के रहस्य का दर्शन करा रहे थे वह।

'तात ! तुझे मैं हाथ में राजदंड लिए बैठा देखता हूँ तो सर्वधर्म की आश्रयरूप विद्या से तुझे प्रेरित देखता हूँ; प्रज्ञा, तुझे वाक्य-क्रिया-विशारद और लोक-कल्याण में तत्पर करती हुई देखता हूँ; तीनों वेद द्वारा लोक-संरक्षण करता, वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन करता, आर्यमर्यादाओं को साक्षात् करता, स्वधर्म में प्रजा को प्रवृत्त करता, उनको स्वर्ग और अनन्त्य* दान करता हुआ तुझे देख रहा हूँ। मैं तुझे कृषि-सम्पन्न होते; पशु-पालन करते, वाणिज्य से वैभव बढ़ाते हुए देखता हूँ; लोकयात्रा के आधार-रूप दन्ड-नीति से अलब्ध का लाभ प्राप्त करता—उपलब्ध की रक्षा करता—रक्षित को बढ़ाता—वृद्धि को सुयोग्य बनाता हुआ तुझे देखता हूँ, और मौर्यश्रेष्ठ ! चारों विद्याओं से राज्यचक्र चलाते, तेरी छत्रछाया में अनेक राष्ट्रों और गणों को एकत्रित, आर्य-धर्म द्वारा लोकसंग्रह का उद्धार करता, महर्षिओं के जीवन-मंत्रों को सनातन करता, अवनि और आर्यावर्त की सीमाओं को एक करता हुआ देखता हूँ। मौर्य ! यही मेरा स्वार्थ है।'

थोड़ी देर रुककर 'चन्द्रगुप्त !' उन्होंने आज्ञा दी, 'स्वार्थ-साधन के लिए तत्पर हो !'

आचार्य की आज्ञा की गर्जना सबके हृदय में भय का आतंक फैला रही थी। खण्ड में भयंकर प्रतिध्वनि करती सुदूर सीमाओं को छूती कर्णगोचर हुई। मैनाकी पूज्यभाव से अवाक् हो देखती रही। चन्द्रगुप्त विस्फारित नयनों से, स्तब्ध हो सुनता रहा।

*मोक्ष।

'विष्णु...! आयुष्मान...!' गद्गद् कंठ से शकटाल ने कहा, 'वृद्ध शकटाल का आशीर्वाद।' उन्होंने हाथ से टटोलकर विष्णुगुप्त को पकड़ छाती से लगा लिया।

मैनाकी पुलकित हो आनन्दाश्रु बहा रही थी।

विष्णुगुप्त ने शकटाल के बाहुपाश से छूटकर प्रणिपात किया। उनकी निश्चल शान्ति और गाम्भीर्य फिर लौट आये।

'कौटिल्य!' शकटाल ने सबहुमान कहा, 'आज मैं शिष्य का भी शिष्य होने में सद्भाग्य समझता हूँ। जा विजय कर!'

'जैसी गुरुदेव की आज्ञा।' कह आचार्य चन्द्रगुप्त की ओर फिरे।

चन्द्रगुप्त काँप रहा था। उसकी आँखों में आँसू भर आये। वह एक दूसरे को देखता रहा।

'तात!' चाणक्य ने शान्तिपूर्वक पूछा, 'क्या कहता है? मेरी स्वार्थ-सिद्धि करने को तत्पर है या नहीं?'

चन्द्रगुप्त एक पैर बढ़ा प्रणामकर चाणक्य के चरणों मे गिर पड़ा।

'आचार्य देव! आपका स्वार्थ ही मेरा धर्म है। मैं तैयार हूँ।'

'चन्द्रगुप्त! स्मरण रखना, जिस दिन तू मेरे स्वार्थ में बाधक होगा उसी दिन तेरा प्राणान्त निश्चित।'

'गुरुदेव!' गद्गद् कंठ से चन्द्रगुप्त ने कहा, 'आपके स्वार्थ का विस्मरण होने से पहले ही मैं स्वयं कृतांत होऊँगा।'

'तात शतं जीव!' कह चाणक्य उठे और कहा, 'तू मैनाकी से छुट्टी ले ले। सुकेतु तुझे यश के पास ले जायगा। वैशाली में तेरे लिए सब तैयारियाँ हो गई हैं।'

'जो आज्ञा!'

'आर्ये!' चाणक्य ने मैनाकी से कहा, 'तुम भी अब वापिस जाओ। प्रातःकाल होने जा रहा है।'

'जो आज्ञा!' कह लज्जित हो मैनाकी नीचे देखती रही।

२८

छठ का प्रातःकाल हुआ। नौबत बज उठी। खान-पान और खेल-कूद के खुमार से राजा और प्रजा के जागने का समय हुआ। अपने प्रेक्षागृह के खंड से निन्द्रालस आँखों को मलती हुई मैनाकी बाहर आई। अभी तक सेनाजित और गौरी की बातें पूरी न हुई थीं।

'अब बहुत हुआ, सेनाजित !' मैनाकी ने सेनाजित से कहा, 'उठो, नहीं तो नरेन्द्रदेव को निन्द्रा से कौन उठायेगा ?'

'हाँ, जा रहा हूँ !' कह ज़रा शरमाकर हँसता हुआ सेनाजित चला गया। मैनाकी और गौरी तैयार होने के लिए रुकीं।

थोड़ी देर बाद नरेन्द्र के दर्शनार्थ पुरुषों को और महादेवी के दर्शनार्थ स्त्रियों को आना था इससे सारे समाज में सजगता आ गई।

समय होने पर सरस्वती के मन्दिर के सामने जनसमूह आ खड़ा हुआ। देवी के दर्शनकर नरेन्द्र की प्रतीक्षा में सब लोग बैठे थे।

नरेन्द्रदेव आये। साथ में आंभिकुमार, वक्रनास, संनिधाता राक्षस इत्यादि महापुरुष भी थे। लोगों ने जय-ध्वनि की और सब के समक्ष सरस्वती का पूजन हुआ।

अंतःपुर के प्रेक्षागृह के पीछे वाले चौक में सब स्त्रियाँ विधिवत् शृंगार कर इकट्ठी हो गई थीं। अलंकारों से दैदीप्यमान स्वतंत्रता से उल्लासपूर्ण महादेवी ने दर्शन दिये। इस समूह में अब उसे अनुराग न था—उसके नेत्र तो तक्षशिला के व्योम-विचुम्बित पर्वतशृंगों पर स्थिर थे।

शंखनाद हुआ। विविध वाद्ययन्त्र प्रतिध्वनित हो उठे और नरेन्द्रदेव प्रेक्षागार में गये। भीड़ बिखरने लगी और छोटे-बड़े झुण्डों में इकट्ठे होकर लोग गाने-बजाने लगे। कितने ही नटविट और गायक अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करने लगे। कितने ही अबीर-

गुलाल बाँटने और कितने ही उड़ाने लगे। कितने सुरापान और फूलों की वर्षा करने लगे।

स्त्रियो ने अपने-अपने प्रेक्षागारो में से झुक-झुककर हँसना और देखना शुरू किया। कई आनन्द में आकर सखियो के कन्धों पर हाथ रखकर कूदने लगी तो कई ताली बजाने और नीचे आते-जाते लोगों की नकल करने लगीं।

नरेन्द्रदेव ने केसर से भरी पिचकारी नीचे जाते समाजवृन्द पर चलाई। तत्काल अनेक प्रेक्षागारो से केसर और टेसू के रंग की पिचकारियाँ नीचे आनन्द मनातीं टोलियो पर बरसने लगीं। धीरे-धीरे आसपास के प्रेक्षागारों की राज-प्रेक्षक मंडली आपस में एक दूसरे को रंग से रँगने लगी।

स्त्रियों ने भी एक दूसरे पर या सगे-सम्बन्धियों पर पिचकारी से सद्भाव दिखाना प्रारम्भ किया।

आंभिकुमार को भी आनन्द आया। उन्होंने पिचकारी भरकर नरेन्द्रदेव को सराबोर कर दिया। नरेन्द्रदेव ने आंभि को। राज-प्रेक्षागार में आनन्द की रेलमठेल होने लगी।

अंतःपुर की रानियाँ भी इस वसन्तोत्सव में पूर्णरूप से भाग ले रही थीं।

लोग आनन्दोमत्त हो नाच रहे थे।

अधीर सेनाजित को कुछ काम न था। वह संनिधाता के प्रेक्षागार की ओर गया। वहाँ इस तूफान का स्पर्श न होने पाया था। गौरी केवल देखने मात्र में रसलीन थी। आनन्दी स्वभाव की मैनाकी इस समय गम्भीर और तिरस्कृत दृष्टि से यह सब देख रही थी।

'क्यों देवी! आपको कुछ आनन्द नहीं आ रहा है?'

'मुझसे कह रहे हो और तुम! गौरी! ले यह पिचकारी!' यह कह वहाँ पड़ी पिचकारी की ओर उसने संकेत किया।

गौरी लज्जावनत देखती रही।

'देवी'—सेनाजित कुछ कहने ही जा रहा था।

'अध्यक्षराज !' मैनाकी का सेवक आया और सेनाजित को प्रणामकर कहने लगा, 'बाहर आपका आदमी आया है, आपको बुला रहा है।'

'कौन !' सेनाजित एकदम निरुत्साहित हो गया। मैनाकी ध्यान से देख रही थी।

'शत्रुघ्न।'

सेनाजित एक छलाँग में बाहर निकल गया। मैनाकी के मुख पर अस्पष्ट हास्य छा गया। गौरी ने चिन्तातुर मुख से देखा। थोड़ी देर में तत्काल परिवर्तित हो सेनाजित आया। उसकी आँखों में भय का आतंक था, उसके मुख पर घबराहट थी !

दोनों स्त्रियों की ओर उसने घबराहट से देखा। मुट्ठी बन्दकर बोलने का प्रयत्न करने लगा।

'क्या है ?' घबराकर गौरी ने पूछा। मैनाकी के गाम्भीर्य में विजयोल्लास था।

'कुछ नहीं।'

'लेकिन है क्या ?' मैनाकी ने हँसकर पूछा।

'कुछ नहीं।' अस्वस्थ सेनाजित ने किसी तरह कहा, 'मैं जाता हूँ।'

'पर क्यों आये थे, क्यों चले ? ऐसा क्या हो गया है ?' मैनाकी ने पूछा, 'मैं तुम दोनों के बीच में व्यवधान रूप हूँ शायद। अच्छी बात है, मैं स्नान करने जाती हूँ।' उसने झटपट वहाँ पड़े हुए उपवस्त्र को उठा लिया और चल पड़ी।

सेनाजित स्तब्ध हो गौरी को देख रहा था। मैनाकी के जाने पर गौरी उसके पास गई और दयार्द्र मुख से उसे देखने लगी।

'क्या है ?' उसने आर्द्र स्वर में पूछा।

'गौरी !' अवरुद्ध कंठ से सेनाजित ने कहा, 'मेरा अन्त समय आ गया।'

'क्या ?' घबराकर गौरी ने पूछा, 'ऐसा क्यों बोलते हो ?'

'गौरी, आज साँझ तक मुझे प्राणदंड अवश्य मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।'

'लेकिन क्यों ?' गौरी के नेत्र भर आये।

'तुझे कैसे समझाऊँ ? वल्लभा। फिर मिलेंगे या नहीं। गौरी, नरेन्द्रदेव ने मुझे एक कैदी सौंपा था वह कल निकल भागा है।'

'कैसे ?'

'कल रात को मैं यहीं बैठा रहा इसीसे। गौरी, हमारा पुण्य समाप्त हो गया। नरेन्द्रदेव ऐसे अपराध को क्षमा नहीं करते।' सेनाजित ने हाथ मलकर कहा, उसके होंठ थर-थर काँप रहे थे।

'लेकिन वह क़ैदी कौन था ?'

'गौरी ! उस पर कितनों का जीवन निर्भर था। अच्छा अब जा रहा हूँ। जो होगा वह ठीक। प्रिये ! विधि ने हमारा विवाह निश्चित ही नहीं किया, क्या करें ?' उसने दुस्सह निराशा से निःश्वास छोड़ा।

सहसा गौरी ने ऊपर देखा और अवरुद्ध कंठ से कहा, 'अब मेरी समझ मे आया।' वह घबराहट से चारों ओर देखती रही।

'क्या, क्या कहा ?'

'समझी, तुम्हारा क़ैदी कौन छुड़ा ले गया। तुम्हें मालूम है ?' भयभीत नेत्रों से देखते हुए गौरी ने कहा।

'नहीं तो ?'

'आचार्य विष्णुगुप्त !' गौरी ने कहा।

भोली-भाली गौरी को यह ज्ञान कैसे हुआ, सेनाजित इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। वह चौंक उठा।

'मुझे यहाँ उसी ने भेजा—विगत रात्रि तुम मेरे साथ बिताओ इसलिए। आर्यपुत्र ! मै ही आपकी वैरिन हुई।'

शकटाल ने उसकी बहिन से निमन्त्रण क्यों माँगा, मैनाकी ने उसे एकान्त क्यों दिया, आदि बातें उसकी समझ में आ गईं।

'जो हुआ सो हुआ गौरी!' सेनाजित ने व्यथित होकर कहा। 'इन सबका मूल वही है। हमारे विवाह में भी रुकावट उसीने डाली है। वह मेरी मृत्यु साध रहा है। इस समय हम लोगों को अलग करने का प्रयत्न भी वही कर रहा है।'

'नाथ! हम लोगों को कोई अलग नहीं कर सकता। लेकिन अब मेरी समझ मे सब कुछ आ गया। हम लोग उसके हाथ के खिलौने बन गये हैं।' गौरी की आँखो से आँसू गिरने लगे।

'—और मरते हैं। उस दुष्ट ब्राह्मण का प्राण कब लूँ!' द्वेश और हिंसा से सेनाजित की मुट्ठियाँ बँध गईं।

'यदि वह ब्राह्मण यहाँ न होता और कैदी निकल भागता तो विशेष भय न था।'

'ठीक बात है - वही सबका मूल है।'

'यह मूल ही उखाड़ देता हूँ।' निश्चयात्मक स्वर से सेनाजित ने कहा, 'गौरी! अगर मैं बचा तो मुझसे विवाह करेगी न—उस ब्राह्मण के बीच में आने पर भी?' गौरी धीमी पड़ गई। उसके कान में गम्भीर गर्जना हुई 'महर्षियों की चरणसेवा करने वाली ऋषि-पत्नी की स्पर्धा करेगी, शिलातल की शैय्या, भिक्षापात्र, मृगचर्म और विभूति?' उसके नेत्रों के सामने बालङ्कुर जैसे विप्रवर की मूर्ति दिखाई दी। उसे चक्कर सा आया, उसने सहारे के लिए दीवाल पर हाथ टेक दिया।

इस व्याकुलता का कारण पूछे इतनी स्वस्थता भी सेनाजित में न थी। उसे अपना कर्त्तव्य याद आया।

'मैं जाता हूँ। नरेन्द्रदेव से कह दूँ। नहीं तो......' कहकर वह चला गया।

२६

सेनाजित जल्दी-जल्दी चलकर नरेन्द्र के प्रेक्षागार में गया, लेकिन वहाँ तो ऐसा रंग जमा था कि किसी से कुछ कहा ही नहीं जा सकता था। वृद्ध बकनास भी कोने में बैठा अपनी कानी आँख से ताक-ताककर पिचकारी मार रहा था। सेनाजित नरेन्द्रदेव को छोड़कर नहीं जा सकता था, और न किसी दूसरे को चन्द्रगुप्त के पीछे भेज सकता था, अतएव व्याकुलता लिये चुपचाप खड़ा रहा।

नरेन्द्रदेव रंग पर आये। आभि को साथ ले पिचकारी भर अंतःपुर में गये और सेनाजित का कार्य शुरू हुआ। आकुल मन से वह नरेन्द्रदेव के पीछे-पीछे नौकरी बजाने चल पड़ा।

न जाने कब तक नरेन्द्रदेव, आभि, महादेवी और दूसरी रानियों में रंग-युद्ध चलता रहा। समय बीतने लगा, मध्याह्न हो गया। फिर से शंखनाद हुआ, बाजे बजे और सब लोग जाने की तैयारी करने लगे। नरेन्द्रदेव ने अंतःपुर में ही भोजन किया। सेनाजित अपना कर्तव्य-पालन कर रहा था।

अन्त में उसने बकनास को एकान्त में देखा और वह उसके पास गया। 'गुरुवर्य! मुझे नरेन्द्रदेव से कुछ कहना है।'

'क्या कहना चाहते हो?'

'इन सब के सामने कैसे कहूँ?'

'इस समय वह तुमसे एकान्त में मिल सकते हैं?' तिरस्कार से बकनास ने पूछा, 'क्या है?'

'अत्यन्त महत्वपूर्ण समाचार है। कुमार रात को निकल भागे।' उसका अंग-प्रत्यंग भय से काँप उठा।

बकनास की एक आँख तीव्र हो गई। उसने तिरस्कार से कहा, 'बला टली!'

'क्या कह रहे हैं ?' सेनाजित यह अकल्पित उत्तर नहीं समझा।

'कल सबेरे इस आफ़त के टलने पर उसे छोड़ना ही था, एक दिन पहले छूट गया। कुछ बिगड़ने का नहीं।' सेनाजित की घबराहट दूर हुई। उसे कुछ शान्ति मिली।

'लेकिन अगर वह ब्राह्मण उसे छुड़ा ले गया हो तब ?' उसने होंठ चबाकर पूछा।

'कौन ?' वक्रनास के मुख पर द्वेष चढ़ गया। उसने एक आँख से तिरछा देखकर सोचा, 'तक्षशिला वाला ?'

'हाँ।'

अमात्य के मुख पर द्वेषपूर्ण हास्य छा गया। 'चिंता न कर, संनिधाता के पास जा और उसकी योजना को कार्यान्वित कर। चुपचाप जा !'

'नरेन्द्र--'

'उनकी चिन्ता तू न कर।' कह वक्रनास ने जाने की आज्ञा दी।

सेनाजित शीघ्र ही संनिधाता के प्रेक्षागार में आया। वहाँ दर्शक संनिधाता, मैनाकी, गौरी और दो-तीन मित्रगण भोजन करने बैठे थे। सेनाजित ने संनिधाता को बाहर बुलाया।

'क्या है सेनाजित ?' विशाल पेट पर हाथ फेरते हुए संनिधाता ने पूछा।

'नरेन्द्रदेव की आज्ञा है।'

'क्या ?'

'आपने जिस योजना को सोचा था उसे कार्यरूप में परिणत करने की।'

'विष्णुगुप्त के लिये—' संनिधाता का मुख प्रफुल्लित हो उठा।

'हाँ।'

'मैंने नहीं कहा था कि मेरी युक्ति आजमाये बिना काम न चलेगा।' हर्षित संनिधाता ने कहा।

'लेकिन है क्या वह?' सेनाजित ने पूछा।

संनिधाता ने उसके कान में कहा। सेनाजित के मुख पर कठोरता और आँख में क्रोध झलक उठा।

'आदमी कहाँ हैं?' उसने पूछा।

'सब तैयार हैं।' संनिधाता आत्म-संतोष से मुस्करा रहे थे। 'मेरी युक्ति बिना कुछ नहीं हो सकता। चलो, आओ। भोजन किया? आओ बैठो।'

'चलिये।' कह सेनाजित भोजन करने आया। उसकी अस्वस्थता दूर हो गई थी, यह देख गौरी की जान में जान आई। उनकी आँखों ने संदेश कहे और सुने। दोनों के हृदय में आशा का पुनर्जन्म हुआ। उसी प्रकार संनिधाता ने हर्ष-संदेश अपनी पत्नी मैनाकी को भेजे। उन्हें समझकर उसकी आँखों ने फिर संदेश भेजे। उन दोनो के हृदय में भी आशा स्थापित हुई! एक नहीं, वरन् दो—अलग-अलग!

समाज का कार्यक्रम आगे बढ़ता ही गया। रात होने पर फिर दूसरा नाटक शुरू हुआ।

सेनाजित गौरी से छुट्टी ले चला गया था और आज रात को वह फिर लौटने वाला न था। संनिधाता भी गये थे। अतएव उस रात्रि को केवल मैनाकी और गौरी रह गये। मैनाकी मन में प्रसन्न हो रही थी। उसकी धारणानुसार सब कुछ हो रहा था और महादेवी का प्रेक्षागार जैसे उसी का हो ऐसा आभास हो रहा था।

गौरी घबरा न रही थी, परन्तु अनमनी-सी थी। उसे यह सब प्रपंच समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी वह अपने को उसका मध्य बिन्दु समझ रही थी।

गौरी का अब कुछ उपयोग रहा नहीं था और वह आचार्य को छोड़कर सेनाजित से विवाह करने की अधमता कर रही थी, इस-

लिए मैनाकी का मन उसकी तरफ़ से खट्टा हो गया। लेकिन इस स्वतःनिर्मित प्रपंच को समाप्त करने का उसने निश्चय कर लिया था, इसीलिये वह इस लडकी की ओर कृत्रिम स्नेह दिखा रही थी।

मध्यरात्रि होने को थी। दोनों में से किसी का भी मन नाटक में न लगता था। स्त्रियों को निरर्थक क्रूरता का रसास्वादन करने में आनन्द आता है। मैनाकी ने इसका आनन्द लेते हुए कहा, 'मध्यरात्रि हुई, चलो, सेनाजित ने उस आचार्य को समाप्त कर दिया होगा।'

'ऐं! क्या कहा?'

'हाँ, क्यों तुमसे नहीं कह गये? नहीं, नहीं! तब मैंने भूल की। मुझे तुमसे नहीं कहना चाहिए।'

'नहीं, मुझे बताओ।' गौरी ने मैनाकी का हाथ पकड़ गिड़गिड़ाते हुए कहा, 'देवी! क्या बात है? यह सब ऐसा क्यों कर रहे हैं? सेनाजित कहाँ गये हैं? आचार्य का क्या होगा?'

'गौरी तू तो अभी नितान्त बालक है। आचार्य तेरे और सेनाजित के बीच में आते थे न!' कटाक्षकर मैनाकी ने कहा, 'अब चैन पड़ी!'

'लेकिन वह क्या करने गये हैं?'

'उन्हें भस्मिभूत करने!'

'किस प्रकार?'

'तेरा घर जलाकर।'

'अर्र्—और मेरे पिता!'

'सेनाजित उनका भी कुछ करने वाला है।'

'देवी! देवी! मुझे बताओ। क्या विष्णुगुप्त जल मरे होंगे?'

'कभी के!' मैनाकी ने निश्चिंतता से कहा।

'नहीं, नहीं!' गौरी का हृदय काँप उठा, 'ऐसे तेजस्वी, विद्वान आचार्य!'

'तुझे क्या दुःख?' मैनाकी ने गौरी की तरफ तीक्ष्ण दृष्टि से देखकर कहा, 'तू कहाँ उनसे ब्याह करने वाली थी।'

'इससे क्या ? लेकिन देवी ! कुछ करिये, उन्हें बचाइए वह महात्मा हैं। तपस्वी हैं। सेनाजित को ब्रह्महत्या लगेगी। देवी ! किसी को भेजिये। उठिये, कुछ करिये !'

'मै उठकर क्या करूँ ? मेरी या किसी की सेनाजित कभी सुनता है ? तू जा, समय है, शायद मान जाय।' मैनाकी ने कहा।

'तब मुझे जाने दीजिये। किसी आदमी को मेरे साथ भेजिए।' दुःख-कातर गौरी हाथ मलती हुई खड़ी हो गई।

'हाँ, जो कुछ तुझसे हो सके कर। मुझे तो नहीं दीख पड़ता कि कुछ हो सकेगा।'

'होगा देवी ! नहीं तो सेनाजित को ब्रह्महत्या लगेगी।'

मैनाकी निश्चिंतता से उठी और आदमियों को आज्ञा देने चली गई। थोड़ी देर में सब तैयारी हो गई और दो विश्वासपात्र आदमी गौरी को ले, घोड़े पर बैठ नगर की तरफ़ दौड़ पड़े।

एक सेवक ने गौरी को अपने पीछे घोड़े पर बिठा लिया था। घोड़े की सवारी से अनभिज्ञ गौरी जैसे-जैसे उससे चिपटी रही। वह तो स्थूल और सूक्ष्म—दोनों दृष्टियों की स्थिरता खो चुकी थी।

गौरी का सिर भन्ना रहा था। उसका हृदय विदीर्ण हो रहा था। यह क्या ? सेनाजित आचार्य को जलावे ! दोपहर की बातों का स्मरण हुआ। उसका क्रोधित सेनाजित 'बालशंकर' जैसे आचार्य को जला देगा, फिर ? और उसके अन्धे पिता को कुछ हुआ तब क्या होगा ? नगर कब आया, दरवाज़े कैसे खुले, रास्ता कैसे बीता इसकी उसे सुध न थी। अपने घर के पास आते ही उसे लाल-लाल तेजोमय धूम्रपुञ्ज दीखे।

'ओ मेरी माँ !' इतना ही वह कह सकी।

अश्वारोही आगे बढ़े। गौरी ने अपने आगे बैठे सवार की बग़ल से देखने का प्रयत्न किया।

उसके घर की थोड़ी-सी दीवालें खड़ी थीं। छप्पर अन्दर पड़ा था। द्वार के स्थान पर बड़ा-सा छेद हो गया था। अन्दर से लपटें निकल रही थीं। उसका घर घर न रहा था—धधकती चिता हो गया था।

वह पागल-सी हो गई। अग्नि की लपटों ने उसे अन्धा कर दिया था। मस्तक में से भी ज्वाला की लपटें निकल रही थीं। 'आचार्य! पिता·····!' वह चिल्लाई और अचेत हो घोड़े पर से धराशायी हो गई।

३०

दूसरे दिन—सप्तमी को—सवेरे लोग कल की तरह तैयार होकर सरस्वती मन्दिर के सामने नरेन्द्रदेव के दर्शनार्थ, और आचार्य विष्णुगुप्त को दिया जाने वाला अर्घ्य देखने, और आंभिकुमार को विदा करने के लिए इकट्ठे हुए। मैनाकी के हृदय में अनेक युक्तियों और अनेक आशाओं का जमघट हो रहा था।

वह भी स्नानकर, वस्त्रालंकार से सुसज्जित हो, अकलप्य विषयों की झाँकी करती अपने प्रेक्षागार में से देख रही थी। जीवन में पहली बार उसकी अपनी कार्यपटुता का प्रथम विजयोत्सव हो रहा था। उसका हृदय प्रफुल्ल था। कुमार का स्मरण और अपनी भावी महत्ता के स्वप्न उसे रोमांचित कर रहे थे। क्षण भर को उसे समस्त समाज स्वप्नवत् दृष्टिगत हुआ। क्या वह स्वयं मगध की महादेवी होने वाली है!···कितनी भव्यता!······उसने ध्यानपूर्वक समस्त समाज का अवलोकन किया।

इस अपार जन-समुदाय में कल जैसा आनन्द और उत्साह न था! चिन्ता और भय के स्पष्ट चिन्ह प्रत्येक के मुख पर अंकित थे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीभ को संयमी बनाने की चेष्टा कर रहा था। चारों ओर अनेक प्रकार की गप्पें उड़ रही थीं। शकटाल का

घर रात को अभिभूत हो गया और शकटाल और नन्द का अपमान करने वाला तक्षशिला का आचार्य विष्णुगुप्त उसमें जल मरे। इस समाचार को उसकी दासी लाई थी। लोगों ने भी यह सुना होगा। वह मन ही मन हँस रही थी।

ऐसी गप्पें सुनकर लोग व्याकुल हो गये थे।

घननन्द का अपमान करने वाले विप्र के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा का उद्रेक हो रहा था। राज्य के क्रूर कर्मों को सहते हुए भी उस शूरवीर के साहस की—उसके अचल लक्ष्य और विद्वत्ता की—उन्होंने मुक्तकंठ से प्रशंसा की, अपना सद्‌भाव प्रदर्शित किया। इस समय उस विप्रवर्य की ऐसी मृत्यु और घननन्द के ऐसे त्रासदायक कृत्य से उनके अन्तर काँप उठे। अन्त में नन्द का भयजनक प्राबल्य विधि के प्राबल्य के सदृश्य ही विजयलाभ करेगा इस विचारमात्र से उनकी लालसा और उल्लास कुचल गये! वह पहले से अधिक कायर हो गये।

इस कथा को सुनकर कितने ही नगर की ओर प्रस्थान करने लगे। अनेक आंभिकुमार क्या करते हैं, यह देखने के लिए खड़े थे। कौन क्या करेगा और किसको क्या होगा यह कोई कह न सकता था। घबराहट को किसी प्रकार से अधीनस्थ कर कुतूहल वश समस्त समाज मन्दिर के सामने आकर बैठ गया।

नरेन्द्रदेव आये; मैनाकी की दृष्टि में ईर्ष्या और द्वेषभाव का उद्‌भव हुआ। इस दुष्ट के स्थान पर उसका प्रियतम कब सिंहासन पर बैठेगा?

नरेन्द्र का मुख आज बहुत उल्लासपूर्ण था। सेनाजित के मुख पर भी विजय-हास था। नरेन्द्रदेव सेनाजित के कंधे पर हाथ रख हँस-हँसकर सम्भाषण कर रहे थे और आंभि भी इसमें अनइच्छित भाग ले रहा था। 'चाहे जितना खुश हो लें,' मैनाकी ने विचार किया, 'यह क्षण उसका है और आगत क्षण मेरा होगा।' नरेन्द्रदेव ने सदैव की भाँति असंख्य अलंकार, और पीताम्बर पहने दुपट्टा ओढ़े और दोनों ओर

त्रिशूलाकृति अर्धचन्द्राकार फैंटा लटकाये हुए थे। आंभिकुमार ने यात्रा की तैयारी कर ली थी। उसने गर्दन से पैर तक लोह-जालिका पहन रखी थी, लेकिन सिर खुला हुआ था।

पीछे-पीछे वक्रनास और संनिधाता मुस्कराते हुए आये, उनके पीछे आभि के दो योद्धा भी लोह-जालिका पहने हुए आ रहे थे।

इन लोगो के मुख पर आनन्द और उल्लास देखकर जनसमुदाय की व्यग्रता कुछ कम हुई। प्रेक्षागारो मे से स्त्रियाँ झाँक-झाँककर देख रही थीं। मैनाकी का हृदय आँखो में उतर आया था।

सेनाजित की आज्ञानुसार मैदान में बैठे जनसमुदाय ने मार्ग दिया। उसी मार्ग से आचार्य विष्णुगुप्त अर्घ्य लेने आने वाले थे। मैदान के अन्तिम छोर पर आभि के तीन-सौ कवचधारी योद्धा अश्वारूढ़ हो प्रयाण की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके पीछे राजगिरि के ढाल पर आंभि के दूसरे योद्धागण और नन्द के सैनिक भी बाट देख रहे थे।

नरेन्द्रदेव और दूसरे राजपुरुष मन्दिर के चबूतरे पर जहाँ रंगभूमि का निर्माण हुआ था वहाँ बिछे हुये आसनों पर बैठे हुए आचार्य विष्णुगुप्त की प्रतीक्षा करने लगे। समय बीतने लगा, आभि जल्दी मचाने लगा। नरेन्द्रदेव, वक्रनास और संनिधाता एक दूसरे के सामने देखकर संकेत करने लगे। मैनाकी के मन मे भी अस्थिरता थी अथवा विजयोल्लास यह कहा नहीं जा सकता था!

'क्यो, अभी तक नही आये?' गम्भीर मुखमुद्रा कर वक्रनास ने चिन्ता प्रगट की।

'मुझे भी ऐसा ही लगता है।' आंभि ने कहा।

'मुझे भी।' नरेन्द्र ने भी कहा।

लोग भी थकने लगे। थोड़ी देर में अन्तःपुर से पाँच शिविकाएँ निकलीं और सरस्वती-मन्दिर के सम्मुख आकर खड़ी हो गईं। उनमें महादेवी और उनकी सखियाँ प्रयाण करने की तैयारी करके आई थीं।

थोड़ी देर पश्चात् पाँच कवचधारी योद्धा उधर खड़े आंभि के योद्धाओं में से निकलकर आभि का घोड़ा ले मन्दिर के चबूतरे की तरफ़ आये और शिविकाओं के सामने खड़े हो गये।

इन पाँचों में से तीन योद्धा आंभि और उसके साथी योद्धाओं के घोड़े थामे हुए थे और एक के हाथ में आभि का शिरस्त्राण और असियष्टि[1] था। इन पाँचों योद्धाओं ने एक ही तरह के सुनहरी चित्रों से अंकित लोहपत्र के वारवाण[2] और शिरस्त्राण धारण कर रखे थे। उनके कवचधारी अश्वो पर धनुष-बाण, कर्पण, और तालमूल[3] इत्यादि लटक रहे थे।

नरेन्द्रदेव यह ठाट-बाट देखकर हँसे। इन शस्त्रसज्जित पाँच सौ सैनिकों से आभि उन्हें भयभीत करना चाहता था, लेकिन उस मूर्ख को खबर न थी कि राजगिरि की तलहटी में दो सहस्र योद्धा और इस समाज में छद्मवेषी दो सहस्र योद्धा उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा में हैं। परन्तु रात्रि को लम्बी मन्त्रणा के पश्चात् उसने और वक्रनास ने यह निश्चित कर लिया था कि किसी कारण से भी युद्ध न किया जाय। तक्षशिला और क्षुद्रक माल्लवों से शत्रुता करने का वह समय न था। महादेवी को यहीं रखने में भी कुछ तत्व न था और व्यर्थ ही मगध की प्रजा का असन्तोष बढ़ाना बुद्धिमानी न थी। चाणक्य को जला डालने में भी विशेष दूरदर्शिता न थी, लेकिन इस विषय में उससे अधिक प्रताप दिखाने में केवल मूर्खता ही थी। इसलिये आंभि को अपनी शक्ति का स्वाद चखाने का यह उपयुक्त समय न था। नरेन्द्र हँसे, 'जा, अभी तो आनन्द कर।'

इतने में शेष और क्षुद्रक माल्लवों के दूसरे दूतप्रणिधि आ गये। वे लोग सवेरे जल्दी उठकर सिद्धाचार्य क्षपणक के दर्शनार्थ गये थे। शेष

---

[1]लम्बे खड्ग। [2]बखतर। [3]लकड़ी की ढाल।

और उनके सहयोगी भी इसी समय जाने वाले थे, अतएव वह भी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित थे। उन्होंने केवल वक्षस्थल के संरक्षण के लिए पट्ट[1] पहन रखा था।

उनकी लम्बी दाढ़ियाँ हवा में उड़ रही थीं। शेष के मुख पर इस समय कठोरता थी। वह बार-बार दाढ़ी पर हाथ फेरता और सुदूर दृष्टि से आचार्य के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। दूतप्रणिधि आये और घोड़ों से उतरकर नरेन्द्रदेव और आंभिकुमार से मिले।

'अभी तक आचार्य नहीं आये?' शेष ने पूछा।

'नहीं, हम लोग उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं!' नरेन्द्रदेव ने कहा।

नरेन्द्रदेव और वक्रनास के अतिरिक्त सब चिन्तित थे। आंभिकुमार के अधर फड़क रहे थे। मैनाकी का हृदय शंका, आशा और चिन्ता से धड़क रहा था; फिर भी वह स्थिरता से सब कुछ देख रही थी। इतने में शंखनाद हुआ और सिद्धाचार्य क्षपणक के शिष्यों की टोली दौड़ती हुई आ पहुँची। एक विशालकाय बाबा हाथ में एक मोटा डण्डा ले, शंक फूँकता हुआ आगे चल रहा था। लोगों को आश्चर्य हुआ। नरेन्द्र और वक्रनास की भृकुटि चढ़ गई। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ऐसी आकुलता थी कि किसी भी असाधारण प्रदर्शन से वह घबरा सकते थे। सेनाजित चबूतरे से उतरकर बाबा से मिला।

'क्यों?'

'जय-जय जयंत! सिद्धाचार्य क्षपणक आचार्य विष्णुगुप्त को विदा करने आये हैं।'

'आचार्य विष्णुगुप्त!' कटाक्ष से सेनाजित ने कहा, 'अभी नहीं आये। खड़े रहो। नरेन्द्रदेव की आज्ञा ले आऊँ।'

---

[1] बिना बाँह का बख्तर।

सेनाजित नरेन्द्रदेव के पास गया और उनकी आज्ञा की सूचना देने वह बाबा के पास फिर गया। 'जय-जय जयन्त' का उच्चारण-कर बाबा चौगान से बाहर गया। इस अकलप्य आगमन से लोगों में खलबली मच गई।

'कुछ समझ में नहीं आता।' आंभिकुमार ने शेष की ओर देखकर कहा, 'अभी तक नहीं आये। कौन लेने गया है?'

'राक्षस मन्त्री गये हैं न।' वक्रनास ने कहा।

'अभी तक वह क्यों नहीं आये?' उपहास से मुँह बनाकर नरेन्द्र ने कहा।

'विलम्ब हो रहा है।' शेष ने कहा, 'अब हमें प्रयाण करना चाहिये।'

शंखनाद हुआ, 'जय-जय जयन्त' का तुमुल घोष हुआ और काले काष्ठ-सिंहासन पर बैठे सिद्धाचार्य क्षपणक आ पहुँचे। लोगों ने दंडवत की। संनिधाता और सेनाजित उन्हें आमन्त्रित करने गये।

पालकी पर से विशालकाय सिद्धाचार्य ने चारों ओर देखा।

'जय-जय जयन्त! आचार्य कहाँ हैं? अर्घ्य दिया जा चुका?' उन्होंने गम्भीर गर्जनाकर पूछा।

'अभी आचार्य नहीं आये; राक्षस मन्त्री लेने गये हैं।' संनिधाता ने प्रणिपातकर कहा, 'आप ऊपर पधारिये!'

चबूतरे पर नरेन्द्रदेव उनकी अभ्यर्थना करने के लिये खड़े हुए थे, सिद्धाचार्य ने उनकी तरफ देखा और ऊपर-नीचे देखकर श्वास नापने के लिए नाक पर उँगली रखी और नीचे से ही आंभिकुमार से कहा, 'आंभिकुमार! जाओ; अब मुहूर्त समाप्त हो रहा है।'

'ऊपर पधारिये।' वक्रनास ने कहा।

'नहीं,' उन्होंने कहा, 'सिद्धाचार्य क्षपणक सरस्वती को यहीं से साष्टांग से प्रणाम करेगा।' कह उन्होंने प्रणाम किया। श्वास रुद्ध मैनाकी अकल्पित प्रसंग की बाट जोह रही थी।

आंभि और शेष आगे आये, 'नरेन्द्रदेव ! आचार्य नहीं आये इसका कुछ कारण होना चाहिये,' नागोदरिका[१] वाले हाथों को ठोककर आंभिकुमार ने पूछा।

'लेने कौन राक्षस मन्त्री गये हैं ?' शेष ने पूछा। नरेन्द्रदेव आंभि और शेष चबूतरे के ठीक किनारे पर खड़े थे। नीचे बीचोबीच सिद्धाचार्य क्षपणक थे। एक तरफ महादेवी की शिविकायें खड़ी थीं। दूसरी तरफ़ युद्ध-वेष में सज्ज आंभि के अश्वारोही थे।

'कहाँ लेने गये हैं ?' क्षपणक ने पूछा।

'नगर में, मन्त्री शकटाल के यहाँ।' वक्रनास ने कहा।

'शकटाल के यहाँ ! हा ! हा ! हा !' क्षपणक हँसे, 'वह तो रात को जलकर खाक हो गया !'

लोग काँप उठे, अनजान व्यक्ति चौंक उठे। आंभिकुमार के भ्रूभंग के साथ ही साथ उसका हाथ खड्ग पर पहुँचा। संनिधाता और सेनाजित ने एक दूसरे के आमने-सामने देखा। नरेन्द्र ने वक्रनास से दुःख प्रकट किया। मैनाकी के नेत्रों से अग्निवर्षा हुई।

'अरर्—क्या कहते हैं ?' नीचेवाला होठ द्वेष से लम्बाकर वक्रनास ने कहा।

'अरे ! हमारे भाग्य में अर्घ्य देना बदा ही न था।' नरेन्द्रदेव ने मिलाया।

'जय जय जयंत !' सिद्धाचार्य ने तुमुल-नाद किया और अपनी दोनों दीर्घ भुजाओं को अनन्त की ओर क्षण भर के लिए ऊँचीकर नेत्र बन्द कर लिये। 'चिन्ता मत करो। घर जल गया, पर आचार्य का बाल भी बाँका नहीं हुआ।' उनके शब्दों की प्रतिध्वनि चारों ओर फैल गई। लोग स्तब्ध हो इस विकृत मस्तिष्क बाबा को देखने लगे। 'सिद्धाचार्य का वचन है। जय जय जयन्त ! जय जय जयंत !' उन्होंने गम्भीर घोषणा की और लोग एकाग्रता से सुनने लगे।

---

[१] लोहे के बने दस्ताने

'हिरण्यगुप्त! अर्घ्य देना हो तो अपना अर्घ्य ला,' उन्होंने एक हाथ नरेन्द्रदेव की ओर बढ़ाया और दूसरा दूसरी ओर।

'आचार्य! कौटिल्य! अर्घ्य स्वीकार करो! जय जय जयंत! जय जय जयंत!'

जिधर सिद्धाचार्य ने दृष्टि की थी उसी तरफ़ हज़ारों आँखें फिर गईं। आंभि के पाँच कवचधारी योद्धा खड़े थे उनमें से एक ने नागोद्धारिका वाला हाथ ऊँचाकर अपना शिरस्त्राण उतार दिया। सब के हृदय की धड़कन क्षण भर के लिए रुक गई। युद्ध-वेष में सुसज्जित आचार्य विष्णुगुप्त ने सिद्धाचार्य को प्रणाम किया।

३१

आचार्य का तेजस्वी और दृढ़ मुख देखकर मैनाकी की शिराओं में हर्ष और उत्साह व्याप्त हो गया।

उसकी विजयोन्मत्त दृष्टि सब पर पड़ी। संनिधाता अव्यवस्थित रूप से मुँह फाड़कर देख रहे थे। सेनाजित के मुख पर काली घटा छा गई और घबराहट से बेसुध हो अपने बाल नोच रहा था। वक्रनास की भौंहें भयंकर द्वेष से आपस में मिल गईं और उसका नीचेवाला होंठ भरा और लम्बा हो गया।

लोग घबराहट की पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे।

आचार्य कौटिल्य ने घोड़े को आगे खड़ा कर दिया। नरेन्द्र की आँखें क्रोध से लाल हो गई थीं। वह होंठ चबाते भौंह सिकोड़े, विकराल रूप से आचार्य की ओर देख रहे थे। उनके हाथ की उँगलियाँ विनाश के लिए बन्द और खुल रही थीं...

वह चबूतरे पर खडे थे। आचार्य सामने अश्वारूढ़ थे। हाथ से पकड़ा जा सके इतनी दूरी पर आचार्य का मुख था...

घातक वृत्ति—चंचल लेकिन दुर्धर्ष—उसे प्रेरित कर रही थी।

आचार्य की जटा उसके हाथ के आगे थी। उसने हिंसक प्राणी की भाँति हुँकारा—हाथ लम्बा किया—और आचार्य की जटा दोनों हाथों से पकड़ ली।

निःशब्द जनसमूह अनिमेष देख रहा था।

आचार्य के मुख पर देवताओं की सी सनातन निश्चलता थी। अभेद्य शान्ति से लोहसम दृढ़ हाथ से उन्होंने नरेन्द्रदेव की कलाई पकड़कर ऐंठ दी।

रविकिरणसम दग्ध करती रश्मियाँ उनके नेत्रों में से फूट पड़ी—नरेन्द्रदेव का तेज क्षीण होने लगा। उसकी हिंसक वृत्ति घबराहट में परिवर्तित हो गई। उसकी रोषभरी आँखो में भय का आतंक छा गया।

आचार्य के हाथ की आज्ञा के वशीभूत हो धीरे से उसके हाथ जटा पर से खिसक गये, दूर हट गये।

आचार्य के भ्रूभंग से ऐसा प्रतीत होता था जैसे उन्होंने तीसरा लोचन खोला हो।

उसका हाथ आचार्य ने छोड़ दिया। वह अत्यन्त लज्जित हुआ। उसकी मुखश्री क्षीण हो गई।

आचार्य की जटा, स्पर्श से ढीली हो कन्धे पर बिखर गई।

'नंद! तेरी अग्नि जिसका स्पर्श नहीं कर सकी, वह तेरे हाथ से मर सकता है? जाने दे, नहीं तो सब हँसी उड़ायेंगे।' वारवाण और जटा से अलंकृत, संयमित, परन्तु उग्र भयानकता से कार्तिकेय सदृश्य आचार्य का कंठस्वर—स्पष्ट और शान्त सबने सुना।

क्षणभर के लिए विस्तृत प्रभावोत्पादक निःशब्दता भंग हुई।

लोग पास आ गये। आंभि, शेष, सेनाजित, भद्रसाल शस्त्र पर हाथ रख पास आये। सब आज्ञा की प्रतीक्षा में थे।

वक्रनास ने तत्काल स्वस्थ हो नरेन्द्र के हाथ पर हाथ रखा। वह हँसा, 'कौन आचार्य विष्णुगुप्त! पधारिये, पधारिये! हम लोग

कब से आपकी बाट जोह रहे हैं। हम लोगो को क्या पता था कि ऐसे वेष में आप आयेंगे ?' उसके स्वर मे द्वेष का डंक था।

नरेन्द्र तत्काल समझ गये। उन्होंने भय और निष्फलता को किसी तरह दबाकर कहा, 'पधारिये, पधारिये !'

मैनाकी ने चमकती हुई आँखो से एक ही दृष्टि में समग्र दर्शन किया, उसका हृदय कॉप उठा। लोग बेचैन होते जा रहे थे। नरेन्द्र के योद्धा और निकट आ रहे थे। क्या हत्या होगी ? उसके जीवन का परम प्रसंग निकट आता प्रतीत हुआ। सारा जनसमूह उसकी आँखों के सामने फिरने लगा।

उसने सिद्धाचार्य को आचार्य के घोडे के पास आते देखा। उनकी लम्बी दाढी सबको आतंकित कर रही थी। उनकी बुलंद आवाज़ गूँज उठी, 'जय ! जय आचार्य विष्णुगुप्त की जय ! आचार्य की जय !'

उनके शिष्यो ने, शेष और आभि के अनुचरों ने, और कितने ही लोगों ने जय-जयकार किया। मैनाकी को यह घोषणा अशक्त लगी। अपने स्वर को उसमे मिलाने की इच्छा हुई, लेकिन साहस न हुआ।

लोग बिखरने लगे। ऐसा अर्घ्यदान देखने से यहाँ से दूर हट जाना अधिक बुद्धिमानी प्रतीत हुई।

यह लोग चले क्यो नहीं जाते ? मैनाकी क्रोध से बडबडाई। सेनापति भद्रसाल ने सेनाजित को सैनिक इकट्ठे करने की आज्ञा दी।

आभिकुमार शेष और उनके योद्धा अश्वारूढ़ हुए।

भयभीत नरेन्द्र के कान में वक्रनास कुछ कह रहा था। मैनाकी ने नरेन्द्रदेव को कहते हुए सुना, 'आचार्य पधारिये !'

'आभि !' इस कोलाहल में भी आचार्य की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ी, 'समय नष्ट हो रहा है, चल !'

'आंभिकुमार !' नरेन्द्रदेव ने कहा। उनका कंठस्वर जल रहा था, 'जरा ठहरो। आचार्य ! क्षमा कीजिये ! यह अर्घ्य'—

सेनाजित ने आकर आचार्य के घोडे की लगाम पकड़ ली। आचार्य ने घोडे पर प्रहार किया, उसके उछलने-कूदने से भीड दूर खिसक गई।

इस वर्तुलाकार में घोडे को फिर सीधा खड़ा किया। आचार्य घोड़े पर से और नरेन्द्र चबूतरे पर से—दोनों एक दूसरे को देख रहे थे।

नरेन्द्र के मुख पर क्रोध और निष्फलता की कालिमा थी। आचार्य का मुख पाषाणवत् अडिग था।

'मैं यहाँ अर्घ्य लेने नहीं आया।' उनके कंठ-स्वर में महाताण्डव गर्जना का प्रतिशब्द था 'नंद ! मैं अभी जाता हूँ, फिर शीघ्र ही वापिस आऊँगा। परन्तु मेरी प्रतिज्ञा सुनता जा। जब तक भूतल पर से सम्पूर्ण नंदवंश का मूलोच्छेद न हो जायगा तब तक कौटिल्य तेरे हाथ के स्पर्श से खुली हुई इस शिखा को न बाँधेगा !'

और सहस्रो नेत्रों ने साक्षात् शंकर के समान कौटिल्य के स्कन्ध पर नंदों का काल-स्वरूप कराल विषधर को लटकते देखा।

मैनाकी हँसी—मगध का—पृथ्वी का—महादेवीपद उसकी आँखों के सम्मुख नाच उठा !

आचार्य घोड़ा कुदा आगे बढ़े। आंभिकुमार उनके पीछे चला उसने आज्ञा दी। एक सहस्र शंख एक साथ बज उठे। घबराते, कुचलते लोगों ने मार्ग छोड दिया।

आंभि और शेष के अनुचर चौगान से बाहर निकल गये; पीछे-पीछे महादेवी की शिविकायें भी चल पडीं।

लोगों में भगदड मच गई। चारों ओर तुमुलनाद हो रहा था। सेनापति भद्रसाल और सेनाजित आज्ञा की प्रतीक्षा में खडे थे। वक्रनास की आँख गहन गह्वरों में घुस गई थी। नरेन्द्र अवाक् हो देखते रहे।

नरेन्द्रदेव की चेतना लौटी, आंभि के योद्धा चौगान पारकर राजगिरि से उतर रहे थे। नरेन्द्र चीख उठे :

'सेनाजित ! भद्रसाल ! इन दुष्टों को...' वक्रनास ने उनका हाथ पकड़कर कान में कहा, 'नरेन्द्रदेव ! वीर का भूषण क्षमा है। शंख और वाद्य बजने दीजिये। समाज की पूर्णाहुति करें।'

नरेन्द्र के मुँह से फेन निकल रहे थे। उसके कानों में गर्जना हो रही थी, 'पृथ्वी पर से नंदो का मूलोच्छेदन होगा तब...' उसके नेत्र और गहरे धँसने लगे। छिन्न-भिन्न समाज रक्तिमता लिए हुए था।

'जय जय जयंत' की गर्जना उसके कान में विश्वविनाशक कड़कड़ाहट-सी सुनाई पडी। उसे तो तेजस्वी आँखों की रश्मियाँ भस्मीभूत कर रही थीं—एक विषधर के फन-सी शलाका उसके शरीर में चुभ रही थी।

क्षितिज में अपने शव पर गीध उडते देखे। और दसो दिशाओं में ज्वालामय धूम्र छा रहा था—उसकी चेतना भयग्रस्त जडता में विलीन हो गई थी।

थोड़ी देर में लोग बिखर गये और नरेन्द्रदेव वक्रनास को साथ ले हाथी पर चढ़ लौटने लगे तब तक वक्रनास की मन्त्रणा का अर्थ न समझ पाये थे।

'गुरु ! आपने इन दुष्टों को व्यर्थ में जाने दिया।'

'देव !' वक्रनास ने कहा, 'इन सब की हत्या के पश्चात् क्या होता इसकी भी कल्पना की है ? जल्दी का काम शैतान का ! अब यदि आवश्यकता हो तो सेनाजित को भेजें। वह काम पूरा करेगा।'

'क्या मेरा सिर करेगा ? कल तो उसने चौपट कर दिया।'

'कुछ नहीं बिगडा।' वक्रनास ने कहा, 'सेनाजित !'

सेनाजित हाथ जोड़े खड़ा था। उसे क्या दण्ड मिलेगा यह कौन जान सकता था। 'गुरुदेव !'

'सेनाजित !' वक्रनास ने कहा, 'तूने अक्षम्य अपराध किया है।'

सेनाजित ने सिर झुका दिया।

'उसका प्रायश्चित तुझे करना पड़ेगा, नरेन्द्रदेव की आज्ञा है। जितने सैनिकों की आवश्यकता हो, ले जा और उस ब्राह्मण का पीछा कर, और ऐसी व्यवस्था कर दे कि वह और कुमार मिल न पायें।'

'जो आज्ञा !'

'और सेनाजित !' वक्रनास का होठ आगे बढ़ा था। 'मगध के बाहर यदि दोनों में से एक भी न रहे तो क्या हर्ज है ? क्यों ठीक है न ?' दुष्टता से हँसकर कहा। सेनाजित ने हाथ जोड़कर सिर झुका लिया।

'और सेनाजित ! देख, कुमार का कुछ न बिगड़े, इसीमें भलाई है।' वक्रनास की भयंकर हँसी गूँज उठी। नरेन्द्रदेव इस वृद्ध अमात्य के कहने के ढंग पर हँस पड़े।

'समझ गया। जो आज्ञा !'

उनकी आज्ञा की ही देर थी। यह आचार्य उसकी विनाशकता में से बच गया, नरेन्द्र के क्रोध से बच गया, अब उसके पंजे से नहीं बच सकता। यह उसका, नंद की राज्य-लक्ष्मी का, कट्टर शत्रु है और वह है उसका काल !

उसने दाँत पीसे और आवश्यकतानुसार सैनिकों को इकट्ठा किया। दोपहर से पहले उसे विष्णुगुप्त का पीछा करना था।

उसे गौरी से मिलना था। लेकिन कहाँ ? जिस घर को उसने भस्मीभूत कर दिया था वहाँ जाने का उसमें साहस न था। उसने मैनाकी के यहाँ उसे खोजा। गौरी वहाँ थी, लेकिन अनुचर ने सूचना दी कि वह अचेत अवस्था में है, अतएव उससे कोई नहीं मिल सकता।

निःश्वास छोड़, विष्णुगुप्त के विनाश की एकाग्रचित्त से आकांक्षा कर सेना ले वह पाटलिपुत्र के बाहर निकला।

३२

गौरी की चेतना लौटी। वह किसी के सुन्दर मकान में बिस्तर पर पड़ी थी। एक दासी पंखा झल रही थी। वह जाग रही थी या सो रही थी? समाज, दक्षयज्ञ, सेनाजित, अँधेरी रात में घोड़े पर मुसाफ़री और अपना जलता हुआ घर, यह सब बातें उसके मस्तिष्क में आ-जा रही थीं। उसके हृदय में एक विशाल गह्वर था जिसमें एक चिता धू-धू-कर जल रही थी। इस चिता का एक ही रूप था। कुछ दीवालें खड़ी थीं, छप्पर गिर पड़ा था, दरवाज़े के स्थान पर बड़े-बड़े छेद हो गये थे। यह भयङ्कर चिता उसके घर की, विष्णुगुप्त की, पिता की, उसकी आशा की, आकांक्षापूर्ण जीवन की चिता थी। उसकी लाल-पीली लपटें उसकी आँखों में नाच रही थीं। उसके ताप की लपट उसके शरीर को जला रही थी।

उसने बिस्तर में बैठकर चारो ओर देखा। उषःकाल होने जा रहा था। उसे सम्पूर्ण सृष्टि ज्वालामय दिखाई दे रही थी। उसने विचार करने का प्रयत्न किया, अन्त में केवल एक ही विचार आया: सेनाजित ने उसके पिता और विष्णुगुप्त को जला मारा! उसका शरीर थरथराने लगा, घबराहट से दोनों हाथ फैला दिये।

उसकी आँखों के सामने घर जलता दीखा, शकटाल और विष्णु-गुप्त भस्म होते दीखे, दोनों की करुणाजनक चीखें उसे सुनाई दीं। दोनों की दग्ध हड्डियों में से नीली-भूरी ज्वालायें निकलती दीखीं। उसने मुँह पर हाथ रखकर इस चित्र-परंपरा को दूर करने का विफल प्रयत्न किया।

सेनाजित क्रूर, घातक, पितृघातक, और ब्रह्महंता बन गया। अब वह उसका न था; वह शत्रु था। उसके प्रेम का स्मरण, सर्प के डंक-सी वेदना देने लगा। जो हाथ सेनाजित ने अपने हाथ में लिया था

वह धधकते अंगारे की तरह जल रहा था। उसका प्रेम, आकर्षण और मोह जलकर भस्मसात हो गया था।

दुष्ट सेनाजित ने किन्हें जला डाला? शकटाल और विष्णुगुप्त को? उसके प्रिय पिता, उसके जीवनाधार, उसकी सेवा के पूज्य आराध्य देवों को? अंध और वृद्ध पिता ने इतने दारुण दुखों में भी उसके लिए क्या न किया था? पुत्रों का विस्मरणकर पुत्री के आश्रय में वृद्धावस्था काटने का उन्होंने निश्चय किया था, उस पुत्री के प्रणयी ने अन्त में उसे धोखा दिया, जीवित भस्मीभूत कर दिया। नंद का क्रोध और वक्रनास का द्वेष जो कार्य न कर सका, वह इस प्रणयी ने ईर्ष्यावश कर दिखाया। अन्त में वही अपने पिता की शत्रु बनी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित थी। 'पिता! पिता। पुत्र तो तुम्हें मात्र छोड़ ही गये थे और मैंने तुम्हें खाक कर दिया। पूज्य पिता! जिस स्तम्भ पर तुमने आधार रखा था उसीने तुम्हें कुचल दिया।' वह बड़बड़ाई।

आग लगने पर वृद्ध पिता थरथराते पैरों से भाग जाने को उठे होंगे; लेकिन हमेशा की तरह सहारा देकर कौन उन्हें बाहर निकालता? हमेशा वह उन्हें ले जाती थी—आज वह उनके पास क्यों न रही? स्वयं आनन्द मनाने और प्रणयी की बातें सुनने चली आई। और कैसा क्रूर प्रणयी! उसने कैसे प्रण से सेनाजित से विवाह करने की इच्छा को स्थायी रखा था! अब कैसा विवाह, कैसा प्रण? आज उसकी लग्नवेदी पर पूज्य पिता का दग्ध शव पड़ा था!

और पिता के कैसे-कैसे मनोरथ थे! पुत्री के सुख के लिये ही उन्होंने शत्रुता का विस्मरण किया था। उन्होंने विष्णुगुप्त से विवाह करने की इच्छा प्रकट की थी। ऐसे हितैषी पिता को ऐसी मृत्यु प्राप्त हुई।

और विष्णुगुप्त भी जल मरे। सेनाजित ने उन्हें जलाने के लिए घर भर को जला डाला। ईर्ष्या से या शत्रुता से या कोई कैदी निकल

भागा इसलिये ? लेकिन कैसा भयङ्कर द्वेष ! सोये हुए आचार्य को जीवित जला डाला !

उसने आँखें ढक लीं। विष्णु कैसा विद्वान् था ! जब वह छोटी थी तब विष्णु घर में रहकर पिता की सेवा करता था। विष्णु ने समय पड़ने पर उसे खिलाया भी होगा, बातें कही होंगी, पढ़ाया होगा। और कुछ ही वर्षों में वही विष्णु आचार्य बनकर आया—अपने गुरु का घर ढूँढता हुआ, नंद के निमन्त्रण को ठुकराकर ! किसी ने आज तक नंद की अवहेलना न की थी वह इस विष्णु ने की।

वह उसके घर पैदल आया—तेजस्वी, स्वरूपवान, बालशंकर के समान। उसकी छोटी-सी झोपड़ी चार दिन के लिये प्रासाद हो गई ! शेष, क्षपणक और राक्षस वहाँ चक्कर काटने लगे। उसके पिता के निष्क्रिय जीवन को अनुप्राणित किया—उनमें नवीन जीवन का संचार किया। शिष्य को देखकर गुरु को कितना गर्व और कितना आह्लाद हुआ था।

उसी बालशङ्कर ने उससे विवाह करने की आकांक्षा प्रगट की। पिता ने भी यही इच्छा प्रकट की। पिता ने अपने वचन द्वारा उसका विवाह किया, लेकिन उस पापिनी ने सेनाजित से विवाह करने की उत्सुकता दिखाई। 'आचार्य ! आचार्य ! आपने मेरे लिए प्राण दे दिये !'

उसे आचार्य के शब्दों का स्मरण हुआ। वह उसके लिये ब्रह्मचर्य त्यागने को प्रस्तुत थे। उस पर कितनी कृपा !

आचार्य सबसे निराले थे। देवताओं जैसी उनकी अपार्थिव गम्भीरता थी। मैनाकी ने कहा था कि जन्म-जन्मान्तर तक ऐसे वर के लिए प्रतीक्षा करती रहूँगी। और वह स्वयं सेनाजित को खोजने निकली, उसकी प्रियतमा बनकर दक्षयज्ञ देखने बैठी और उन्हें जला डाला !

सेनाजित और आचार्य ! कहाँ यह द्वेषी ब्रह्महंता सेनाजित और और कहाँ ब्राह्मण-श्रेष्ठ विष्णुगुप्त ! उसे स्मरण हुआ 'यदि मदन का प्रकोप हो और राज्य लक्ष्मी की आकांक्षा हो, विलास-वैभव का आकर्षण हो, या दिया हुआ प्रण टूटता हो तो सेनाजित का पाणिग्रहण कर; लेकिन अगर महर्षियों की चरण-सेवा करनेवाली ऋषिपत्नि की स्पर्धा करने की उत्कंठा हो—'

सच है, वह लोभी, दंभी, दुष्टा है। उसको महर्षियों के चरण-सेवन करनेवाली ऋषिपत्नियों की स्पर्धा करने की उत्कंठा न हुई। इतना ही नहीं, स्वयं उस दुष्टा ने उस महात्मा को जलवा डाला। कल यदि उसने विष्णुगुप्त की योजना न सुझाई होती, तो सेनाजित कुछ भी न जान पाता, और ऐसा दुष्ट आचरण करने का साहस न करता।

कैसा ! बालशङ्कर जैसा तेजस्वी ब्राह्मण !

'ओ अश्विनो ! मुझे जलाकर भस्मीभूत क्यों नहीं कर देते ?' उसके पिता जैसे व्यक्ति ने भी जिसके प्रति पूज्यभाव दिखाया था, उसे तिरस्कृत किया—उसे जला डाला। उसके शब्दों में कैसी महत्ता थी !...

वह ब्राह्मण-कन्या सेनाजित से विवाह करने के लिए, ऐसे विप्र का विनाश करने को उद्यत हुई। विनाश करने ! उसका विनाश किया। विष्णुगुप्त धर्म का अवतार बृहस्पति सदृश्य विद्वान् था। उसको बाल्दिकाचार्य जैसे ब्राह्मण की पौत्री ने जला डाला !

उनका क्या अपराध था ? उन्हें तो विद्या का प्रताप फैलाना था। तीनों वेद और वर्णाश्रम की पुनः स्थापना करनी थी। ब्राह्मणों का द्वेषी शूद्र नंद—शकटाल का शत्रु नंद—वह सेनाजित के मन पितातुल्य है। ऐसे व्यक्ति से वह विवाह करने को तैयार हुई—उस बृहस्पति को छोड़कर ! वह ब्राह्मण-कन्या, जिसका उदर देवदुर्लभ है, ऐसी ब्राह्मण-कन्या !

उसका मस्तिष्क प्रज्वलित था। वह उद्भ्रांत हो चारो ओर देख रही थी। उसने ज़ोर से सिर दे मारा। 'मैं जनमते ही क्यों न मर गई!' उसकी भयग्रस्त आँखें शून्य में देखती रहीं। यह कौन आ रहे हैं! क्षितिज पर महर्षिगण आते दिखाई दिये। वशिष्ठ और अंगिरा भरद्वाज और अत्रि से लेकर बाल्हिकचार्य तक, सब उसकी तरफ़ आ रहे थे। इन देव-प्रतिमाओं की ज्वलंत आँखें क्रोध से उसकी ओर देख रही हैं। वह घबरा गई, किधर जाय यह न दीख पड़ा। दिशायें उनके शाप से कंपायमान थीं। सहस्रों पूर्वज उसे संबोधित कर रहे थे, 'तू! तू कुल-कलंक! तूने ब्राह्मण-कन्या होकर बालशङ्कर जैसे विष्णुगुप्त को जला डाला!' वह मूर्छित हो धराशायी हो गई, उठी फिर गिरी। 'तू पूर्वज-द्रोही, धर्मद्रोही, विद्याद्रोही है! तूने हमारे आचार्य को जला डाला!' नहीं नहीं! उसने बोलने का प्रयत्न किया परन्तु किसी ने सुना नहीं। पूज्य पूर्वजों का समूह उसकी तरफ़ आया। व्योम में भयङ्कर प्रतिशब्द हुए। 'तूने—ब्राह्मण-कन्या ने—शूद्र-सेवक के मोह में पड़कर आचार्य का हवन करवाया!'

उनके उग्र नेत्रों से अश्रु वर्षा होने लगी। 'दुष्टा! वह वेद और वर्णाश्रम की स्थापना, विद्याओं के उद्धार करता, लेकिन उसे भी पापिनी ने जला डाला!' वह पागल हो उठी। जला डाले! हाँ, क्षमा करो, मुझे मार डालो! क्रोध से दिगन्त प्रकम्पित हुए। शेषनाग चलायमान हुए। भयङ्कर शापों की गर्जना उसके कानों में होने लगी, 'नहीं, नहीं। तू जीवित जला कर!'

'नहीं, नहीं!' कर वह चीखती हुई उठ बैठी। महर्षियों के शब्दों का भयङ्कर प्रतिशब्द हुआ, 'हमें कौन अर्घ्य देगा? आर्यावर्त का कौन उद्धार करेगा? विद्या का कौन संरक्षण करेगा? पापिनी! हमारा क्या होगा?'

वह गूँगी हो गई। यह भयङ्कर शब्द उसके पीछे पड़ गये थे। वह दौड़ी। 'खड़ी रह! हमारा क्या होगा?' उसके पीछे कोई बोल

रहा था। यह शब्द असह्य थे। वह कहाँ से निकलकर कहाँ गई, इसका उसे भान न था। उसके पीछे सब दौड़ रहे थे। 'अरे, यह क्या करती है? हमारा क्या होगा?' यह शब्द उसका पीछा कर रहे थे।

सूर्योदय हुआ। वह दौड़ती रही। स्थान परिचित था। वहाँ लोगों का ठट्ठ जमा था। किसका ठट्ठ? पूर्वजों का? कौन से पूर्वजो का, यह कहने की सामर्थ्य उसमें न थी। 'आचार्य जल गये' सब यही कह रहे थे, 'हमारा क्या होगा?' इस प्रकार की ध्वनि आ रही थी। वह इस भीड़ में घुस गई। लोगो ने मार्ग छोड़ दिया। वह आगे बढ़ी। उसकी आँखो के सामने अँधेरा छा गया।

उसने जले हुए घर के कोयले देखे, उसमें से निकलता धूआँ देखा। वह और आगे बढ़ी। यह उसका घर! पीछे से, 'खड़ी रह, खड़ी रह!' की आवाज़ें आ रही थीं—चारो ओर से—कौन?—पूर्वज? खड़े थे।

जलते हुए घर के सामने कोई बैठा था। कौन था? यह क्या? उसके पिता?—जैसे थे वैसे ही—जलते हुए घर के सामने रास्ते में बैठे थे। क्या वह पितृलोक में इस प्रकार बैठे हैं या सचमुच जीवित हैं? 'पिता! दया कीजिए!' उसने आक्रन्द किया। वह आगे बढी। वृद्ध शकटाल ने हाथ लम्बेकर कहा, 'बेटी, गौरी!' वही स्वर! वही हाथ! वह गिर पड़ी। लेकिन उसकी दृष्टि जलते हुए घर की तरफ़ गई···इस ज्वाला के नीचे महर्षियों के प्रिय बालशंकर की अस्थियाँ पड़ी थीं···'क्षमा कीजिये!' वह चीख़ उठी।

किसी ने उसको पकड़ लिया। उसका शरीर शिथिल हो गया था।

घर के सामने नगरनिवासी इकट्ठे हुए थे। जलते घर के सामने अंध शकटाल भयङ्कर एकाकीपन में अपनी स्वस्थता स्थिर रखे बैठे हुए थे। आचार्य विष्णुगुप्त घर के नीचे दबकर जल मरे थे ऐसा लग रहा था। श्रांत गौरी पिता के पास बेसुध हो गिर पड़ी।

यह देख लोगों का क्रोध बढ़ गया। चारों तरफ़ कोलाहल मचने लगा। नन्द के प्रति द्वेष बढ़ने लगा निर्बल प्रजा में भी क्षण भर के लिए बल का संचार हुआ।

कई लोगों ने शकटाल से वहाँ से हटने की प्रार्थना की।

'नहीं मेरा घर जल गया। मुझ पर अग्नि-छत्र रखी जायगी, इसकी प्रतीक्षा करता हुआ बैठा हूँ!'

लोग दुखी हुए और ऐसे कुकर्मी नन्द पर देवता कुपित क्यों नहीं होते इसका विचार करने लगे। मैनाकी के अनुचर गौरी के पीछे-पीछे आये और उसे उठा ले गये।

अन्त में, लोगों ने छप्पर, जली हुई लकड़ियाँ अलग कीं और वह आचार्य की हड्डियाँ ढूँढने लगे। इतने में सिद्धाचार्य क्षपणक के कई शिष्य वहाँ आ पहुँचे और खबर दी कि सिद्धाचार्य ने किस प्रकार मन्त्रबल से आचार्य को बुलाया, आचार्य ने क्या कहा, आचार्य निर्विघ्न नगर छोड़ किस प्रकार गये, आदि बातें लोगों ने सुनीं। लोगों के आश्चर्य की सीमा न थी। देवता अन्त में नंद पर रुष्ट हो ही गये, ऐसा उन्हें विश्वास हो गया और उसके प्रमाण-स्वरूप विष्णुगुप्त की प्रतिज्ञा कंठस्थ कर ली।

शकटाल के जले हुए घर में से लोगों ने कूड़ा-करकट साफ़ किया और कितनों ने मिट्टी इत्यादि लाकर नया घर बनाने की तैयारी की। थोड़ी देर मे संनिधाता के अनुचरों ने आकर काम में हाथ बँटाया।

शकटाल ने वहाँ से एक क़दम भी हटना स्वीकार न किया।

मैनाकी लगभग दोपहर को अपने घर आई और गौरी की सेवा-शुश्रूषा में लग गई। उसकी चेतना लौटने पर उसे खिला-पिलाकर उसने सब बातें कहीं। पिता और आचार्य बच गये हैं यह सुन गौरी के प्राण लौटे और विष्णुगुप्त ने प्रतिज्ञा क्यों की उस हृदय-प्रेरक घटना को उत्साही मैनाकी के मुँह से सुन उसकी निर्बलता दूर होने लगी और उसने अपने थोड़े-बहुत विचार प्रकट किये।

दोपहर के बाद संनिधाता घर आये और सेनाजित को जो आज्ञा दी गई थी, वह सब उसने मैनाकी से विस्तारपूर्वक कही। वह चौकी और संनिधाता के भोजन करके सो जाने के बाद मैनाकी ने सुकेतु को बुलाया और उसके साथ परामर्श किया। गौरी सो रही थी। उसके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ अब भी विद्यमान थीं।

'गौरी, दुर्दैव अभी शान्त नहीं हुए!'

'क्या है?' चौंककर गौरी ने पूछा! कष्ट-परंपरा का कब अन्त होगा यह अकल्प्य था।

'आचार्य को मार डालने के लिए नरेन्द्रदेव ने सेनाजित को भेजा है।'

'एँ!'

'हाँ,' मैनाकी ने सिर पर हाथ रखा।

'और सेनाजित—' गौरी की जीभ अटक गई, 'गये?'

'हाँ,' काफी समय हुआ।

'क्या करें?' गौरी ने पूछा।

'यह सब युद्ध तो तेरे ही लिए हो रहा है।'

'मैं मर क्यों न गई! मरते समय भी मुझे किसी ने विष न दिया।'

'हताश क्यों होती है? एक काम करें। मैं सुकेतु को आदमियों के साथ सेनाजित के पीछे खबर रखने को भेजती हूँ। तू उसके साथ जा। यदि कोई इस समय आपत्ति दूर करनेवाला है तो तू ही।'

'आप जो कहेंगी वही करूँगी।' निराधार हो गौरी ने कहा।

'सुकेतु के साथ जाकर आचार्य शकटाल से पूछ आ।'

'नहीं, देवी! मैं पिताजी के सामने कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ! अपना किया आप ही भोगूँगी। यदि आचार्य की रक्षा हो सकती है तो मैं जाऊँ।'

'तू जायगी, तभी बचेंगे।'

गौरी ने विचार किया, फिर एकदम उठी, 'देवी, उनको किसी भी तरह से बचाना चाहिये। मैं तैयार हूँ। सुकेतु को आज्ञा दो कि मुझे ले जाय।'

'धन्य है गौरी!' मैनाकी ने कहा।

गौरी आचार्य को बचाने के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो गई।

३३

सेनाजित का कार्य उसकी धारणा से कहीं अधिक कठिन निकला। वह पीछा कर रहा है यह बात आंभि के सैनिकों को विदित न हो इसका सतर्कतापूर्वक ध्यान रखने की आवश्यकता थी। साथ ही कुमार चन्द्रगुप्त विष्णुगुप्त से मिले या नहीं, यदि मिले तो इसकी सूचना गुप्तचरों को भेजकर प्रतिदिन प्राप्त करना पड़ती थी।

सेनाजित की अधीरता का पारावार न था। उसका रोम-रोम विष्णुगुप्त को कुचल डालने के लिए आकुल था। समय की प्रगति के साथ-साथ उसकी अधीरता बढ़ती जाती थी।

मगध की सीमा पार करने पर उसे कुछ चैन मिला। अब उस पर रखा हुआ अंकुश दूर हुआ जान पड़ा। एकाएक हमलाकर सन्मुख युद्ध करके इस दुष्ट का अन्त कर देने का उसका विचार था। लेकिन आंभि और शेष की अध्यक्षता में लगभग दो सहस्त्र योद्धा थे और अवसर है, उसके चार सहस्त्र योद्धाओं को भी पराजित करें तब? नहीं, जल्दी करके मूर्खतापूर्ण क़दम बढ़ाने का कोई कारण नहीं है।

सेनाजित ने अन्न-जल और नींद का सर्वथा त्याग कर दिया था। विचार, समझदारी, सेवा, प्रेम, इनमें से एक भी उसे रुचिकर प्रतीत न होता था। विष्णुगुप्त के पीछे, जिस प्रकार तृषित मृग जल की खोज में फिरता है, उसी प्रकार वह घूम रहा था।

उसकी प्रियतमा को उसने छीन लिया, उसके कैदी को छुड़ा ले गया। वह जलते घर में से निकल भागा।

उस पर नरेन्द्र की कृपा थी, वह उसने छीनी, समस्त पाटलिपुत्र में उसकी हँसी कराई। उसकी प्रतिष्ठा, उसकी कीर्ति और उसके सुख का अपहरण किया। अनेक वर्षों का तेजस्वी जीवन क्षण भर में कुचल डालनेवाले इस पिशाच का विनाश करना यही उसका परम और प्रथम ध्येय था।

रात-दिन वह इन्हीं विचारों मे डूबा रहता। एकाग्रता ही एकाग्रता को सरल कर देती है। जागते हुए वह विष्णुगुप्त के विनाश का विचार करता और निद्रा में उसके रक्त से अपने हाथों को रँगता था।

कई दिनो बाद वह घबराया, आंभि का सैन्य प्रमुख मार्ग छोड़, उत्तर की ओर जा रहा था। इसका क्या कारण? उसने गूढ पुरुषों को भेजकर पता लगवाया, लेकिन कुछ फल न निकला। उसने भी वही मार्ग पकडा।

तीन दिन की यात्रा के उपरान्त पर्वतमालाएँ दिखाई दी और शीतल पवन चलने लगा। मार्ग अब सपाट न था, ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढा था। पर्वतों के छोटे-बड़े शृंग चारों ओर दिखाई देने लगे। अब एक-दूसरे से दूर अथवा छिपकर नहीं रह सकते थे। गूढ़ पुरुष समाचार लाये कि आंभि नैमिषारण्य की तरफ़ जा रहे हैं।

सेनाजित का सैन्य आगे बढ़ा। रात में आभि का सैन्य दीख पड़े इस प्रकार वास किया।

सेनाजित ने नैमिषारण्य की अनेक बातें सुनी थीं पर देखा न था। घननंद के दरबार में नैमिषारण्य भुखमरे, असंतुष्ट और दुष्ट ब्राह्मणों का निवासस्थान माना जाता था, उसके लिए तिरस्कार-वृत्ति के अतिरिक्त और दूसरी वृत्ति का प्रयोग ही न होता था। उसने अपने

अग्रज के मुख से इस अरण्य की कथाएँ सुनी थीं, लेकिन उपेक्षा से वह हँसकर उन्हें टाल देता था। सेनाजित मन ही मन हँसा, भूत श्मशान को लौट रहा है।

ऐसे स्थान को देखने की उसे लालसा हुई।

सेनाजित सवेरे उठा तब आंभि का सैन्य भी वहीं था। एक पर्वत की तलहटी में छावनी डालकर पडा था। सेनाजित अब धैर्य न रख सका। उसने भी अपनी सेना को छावनी डालने की आज्ञा दे दी और सौ चुने हुए अश्वारोही लेकर वह आगे बढ़ा।

एक वृद्ध योद्धा ने बाधा डाली, 'अध्यक्षराज! अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो नैमिषारण्य कैसे जाया जाय?'

सेनाजित ने कठोरता से देखकर कहा, 'यह हिरण्यगुप्त नंद का राज्य है—परीक्षित का नहीं।' योद्धा मौन रहा। यह लोग आंभि की छावनी के पास आ पहुँचे। एक पेड़ की छाया में कुछ योद्धा विश्राम ले रहे थे, वे एकदम खडे होकर सामने आये। एक आदमी ने धमनिका[1] फूँकी इससे दूसरे योद्धा छावनी में से निकल आये।

'मैं लडने नहीं आया। घबराओ मत।' सेनाजित ने कहा, 'कुमार आंभि कहाँ हैं?'

एक शिविर में से कद्रु का हास्य सुनाई पड़ा, 'कौन सेनाजित!' कद्रु बाहर आया। उसका विशाल मुख उपहास से हँस रहा था, 'आप कैसे रास्ता भूल गये?'

'कुमार आंभि और महादेवी कहाँ हैं?' सेनाजित को इस प्रचण्ड हँसमुख ब्राह्मण का मुँह अच्छा न लगा।

'वह सब कुलपति भद्राक्ष के आश्रम को गये हैं।' कद्रु ने हँसते हुए कहा।

'क्यों?'

---

[1] बिगुल।

'व्यासतीर्थ पर स्नान करने। बैठिये, थक गये होंगे।'

'नहीं, मुझे उनसे काम है।' कठोरता से सेनाजित ने कहा।

'किससे?' कद्रु ने हँसते हुए पूछा।

'आभि से।'

'चलिये, मार्ग दिखा दूँ।'

'नहीं, मैं चला जाऊँगा।' सेनाजित ने हठपूर्वक कहा।

कद्रु खिलखिलाकर हँसा। 'मैं अकेला क्या आपको खा जाऊँगा! सेनाजित, घबराइये मत! मुझे भी वहीं जाना है। मैं दूर-दूर चलूँगा।' कहकर उसने अपनी झोली को कन्धे पर रक्खी और चलना शुरू किया।

'तुम्हें चलना है, तो आओ।' सेनाजित ने कहा!

'—और यह घोड़े और शस्त्र भी ले चलेंगे?' कद्रु ने पूछा।

'क्यों, क्या आपत्ति है?'

'नैमिषारण्य में कोई ले नहीं जाता। फिर आप जैसे महारथी को कौन मना कर सकता है?' कद्रु ने हँसकर कहा। सेनाजित होंठ चबाकर रह गया, कोई उत्तर न दिया। कद्रु आगे बढा। सेनाजित और उसके योद्धा उसके पीछे-पीछे चलने लगे।

तलहटी में से सब एक पहाड़ी पर चढ़े। जैसे ही वह ऊपर चढ़े सेनाजित ने अपना घोड़ा रोककर चारो ओर देखा। सब लोग एक पर्वत की समतल चोटी पर खड़े थे।

धूम्रमय परन्तु पारदर्शक वातावरण चारो ओर विस्तृत पर्वतमालाओं पर आच्छादित था। उत्तर में सुदूरवर्ती पर्वत उत्तरोत्तर गगनचुम्बी होते जाते थे और बादलों के उस ओर एक गिरिराज का हिममय शृंग गगन भेद रहा था। सूक्ष्म ताप, शीतल पवन और थोड़े से छोटे सुनहरी बादलों के अतिरिक्त व्योम निर्मल था। उष्णता, शीतलता, प्रकाश और छाया का अद्भुत समन्वय दर्शकों की इन्द्रियों को मुग्ध-कर एक असाधारण रमणीय चित्र उपस्थित कर रहा था।

परन्तु इन सब पर्वतमालाओं में मध्यवर्ती झील विशेष ध्यान आकर्षित कर रही थी।

यह विशाल झील अच्छादित हरीतिमा में ढकी हुई थी और उसके बीच से हो एक नदी कभी सूर्य के तेज में चमकती, कभी सघन कुञ्जों में छिपती, आगे बढ़ती दिख रही थी। छोटे-बड़े निर्झर स्थान-स्थान पर हीरे की तरह चमक रहे थे। विस्तृत धूम्रराशि हरीतिमा के ऊपर प्रवाहित हो रही थी।

पाटलिपुत्र में स्थित ब्राह्मणों के मुहल्ले के समान ही नैमिषारण्य होगा, ऐसा सेनाजित का अनुमान था।

उसने पर्वत के किनारे पर घोड़ा खड़ा कर देखना आरम्भ किया।

दूर, दो पर्वतमालाएँ मिल जाती थीं वहाँ तक इस हरीतिमा और सरिता का समान प्रवाह था। प्रवाह की चमक रंग में ज्योति का समन्वय कर रही थी। धूम्रपुञ्ज ऊपर ही ऊपर उड़ने की चेष्टा कर रहा था। किसी स्थान पर जटाधारी पुरुषों के साथ बालवृन्द जा रहे थे, किसी स्थान पर धेनु केलि-क्रीड़ा करती थी। एक जगह—बीच में—विभूति की एक छोटी ढेरी रङ्ग में विभिन्नता ला रही थी। किसी स्थान से धूम्रपुञ्ज के साथ सुवास प्रवाहित हो रही थी। कहीं पर घंटानाद की मधुर ध्वनि हो रही थी, तो कहीं से किसी की हुंकार या हास्य का स्वर आ रहा था, और अनेक स्थान से मन्त्रोच्चार की मधुर, प्रेरणावाहक ध्वनि, सुवास और अन्य ध्वनियाँ एक रूप हो, मानों इस शान्त और रमणीय स्थल का विशुद्ध और समृद्ध प्राण बन वरुणदेव के व्योम सिंहासन का स्पर्श करने की महेच्छा ले ऊपर आ रही थीं।

इन्द्रियों द्वारा आत्मा में सुधारस भर इस अरण्य ने सेनाजित को जरा शान्त किया, लेकिन दूसरे ही क्षण उसने भ्रूभंगकर उस शान्ति की अवहेलना की। इस अरण्य का विषाक्त कीट था विष्णुगुप्त।

महापद्मनंद और उसके पुत्रों के प्रताप से भागे हुए यह ब्राह्मण कई वर्षों से यहाँ आ जमे थे, और वह उनका प्रतिनिधि था। उस आचार्य की विजय इस अरण्य की विजय थी, इस अरण्य की मोहनी ही उसका प्रताप था। सेनाजित क्रूरता से हँसा। विष्णुगुप्त के साथ-साथ इस अरण्य में भी अग्नि-प्रवेश किया जाय तो कैसा?

'सेनाजित!' कद्रु ने मजाक में पूछा, 'पहले कभी आये थे?' उसने मूक अस्वीकृति प्रदर्शित की और थोड़ी देर तक अपनी विनाशकता को उत्तेजित करता रहा! रमणियता, शान्ति, आकर्षक ध्वनियो का माधुर्य—यह सब उसे समस्त सृष्टि के कलंक रूप लगा। इनका विनाश करने के लिए उसके हाथ खुजला रहे थे। महापद्म द्वारा प्रारम्भित ब्राह्मण-विनाश के शुभ कार्य की सिद्धि—इस अरण्य को भस्मिभूतकर—कब होगी?

'उस ब्राह्मण का आश्रम कहाँ है?'

'वह ब्राह्मण?' हँसकर कद्रु ने पूछा और जिस अशिष्टता से सेनाजित ने पूछा था उसी अशिष्टिता से, लेकिन व्यंग से, उसने भी उत्तर दिया, 'कौन, भद्राक्ष? इस रस्ते से चलो' और उसने उँगली से एक ओर संकेत किया। सेनाजित ने बोले बिना निर्देशित मार्ग पर घोडा छोड़ दिया। थोडी दूर जाकर उसने देखा कि उसके सहचर घोडों को नहीं बढ़ा रहे थे।

'चलो!' सेनाजित ने क्रोध में आकर आज्ञा दी। सैनिकों ने उसका अनुसरण किया। कद्रु दूसरी पगडण्डी से दौड़ता हुआ अदृश्य हो गया।

सेनाजित शीघ्रता से सामने वाले खड्ड में उतरा। समतल भूमि पर आते ही उसे सामने एक पगडण्डी सुरम्य वृक्षों की छाया से ढकी हुई तपोवन की ओर जाती दिखाई दी।

यहाँ पर सवितानारायण ने भी माधुर्य फैला रखा था। उनकी किरणें वृक्षों के पत्तों पर झूलतीं, पृथ्वी पर खेलती विचरती हुई सघन

छाया के सुकोमल बिछौने पर भिन्न-भिन्न दृश्य उपस्थित कर रही थीं। दूर-दूर तक लम्बे, विशाल वृक्षों की परंपरा दिखाई दे रही थी। बीच-बीच में लटकती लता-वल्लरियाँ दृष्टिपथ पर वसुन्धरा की कारीगरी प्रकट कर रही थीं।

प्रकृति की अपूर्वता के दर्शन में किरणों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के वर्तुल अदृष्ट वनदेवियों के नृत्य के पदचिह्न से लगते थे। प्रखरताविहीन अंशुमालि के ताप और प्रकाश दोनों सुकमार बन गये थे, सुलभ सुकुमारता वातावरण में प्रसरित थी और वृक्ष-परंपरा में होकर अनन्त अपूर्वता अपनी झाँकी करा रही थी।

वृक्ष और वनलताओं से वन का वैपुल्य और उपवन का संस्कार था। वृद्ध वृक्षों के थाले तो छोटे पौधों की क्यारियाँ थीं। वनलताएँ अनुराग से उनका आलिंगनकर किसलय और पुष्पों से अपने सुखी दाम्पत्य की विजय प्राप्त कर रही थीं।

कोई वृक्ष बिलकुल हरे, तो कोई हरा-पीला रंग लिये, तो कोई रक्त-वर्ण पत्तो से सुशोभित था। गोगम के नीले वृक्ष पर एक तरफ अलग-अलग ककरेजी पुष्पपुञ्ज, इन्द्रासन से सिन्दूर से रँगे पुष्पों का ढेर उन वृक्षों पर बिखर रहा हो, ऐसा प्रतीत होता था। एक विशाल पारिजात पर तारों के समान देवपुष्प चमक रहे थे और दूर-दूर तक वन को सुवासित कर रखा था। स्थान-स्थान पर नीली जासुदी के बड़े सुघड़ लाल पुष्प आनन्द से झूमने हुए हरित सृष्टि में रंग वैचित्र्य की सृष्टि कर रहे थे।

यह रमणीय समृद्धि पाषाणों को द्रवित कर देती, लेकिन सेनाजित में सहिष्णुता न ला सकी।

उसने होंठ चबाकर घोड़े को एड लगायी और सामने देखा तो एक बन्दर उसकी ओर दाँत किटकिटा रहा था। उसने भी उसके सामने दाँत पीसे।

बीच-बीच में छोटे-छोटे झरने स्फटिक शिलाओं पर से बह रहे थे। उनका जल निर्मल और शीतल था। उसके घोड़े ने सिर नीचा कर पानी पीना शुरू किया। लाचार होकर सेनाजित ने श्वास ली। उसकी दृष्टि बहते हुए झरने पर पड़ी। झरना कलकल निनाद करता हुआ छोटे-छोटे वृक्षों में होकर अदृश्य हो जाता था। सिर पर एक वनलता पुष्पों के झूमकों से उसे खिझा रही थी।

दूर एक कोयल कूक उठी। उसने दाँत किटकिटाकर घोड़े की लगाम खींची और शीघ्र ही नाले को पार कर गया।

थोड़ी दूर पर एक मैदान मिला। पगडंडी दो-तीन दिशाओं को जाती थी। किधर जाय इसका विचार करने के लिये उसने घोड़ा रोका। सामने एक पगडंडी पर एक श्यामल और दो-तीन दूसरे मृग इसकी ओर दयार्द्र नेत्रों से खड़े-खड़े देख रहे थे।

'हम लोग राजपुरुष—परिश्रम कर-कर मरें और यह आलसी भैंसे मौज करें!' उसने विचारा। उसने मृग की तरफ़ घोड़ा दौड़ाया। थोड़ी देर तक तो आश्रम के मनुष्यों से परिचित मृग शान्ति से खड़े रहे लेकिन अन्त में इन उत्तेजित अश्वारोहियों पर अविश्वास कर, घबराकर भाग गये।

दूसरा नाला आया। यह ज़रा बड़ा था। जल ऊँचे-नीचे शिला-खण्डों पर से मधुर गान और नृत्य करता हुआ बह रहा था। एक स्थान पर नाले का इकट्ठा होकर छोटा-सा तालाब बन गया था, उसमें खिले एक नील-कमल के पास सारस की जोड़ी क्रीड़ा कर रही थी। थोड़ी दूर पर एक स्त्री घड़ा भरकर जा रही थी। उछलते घोड़ों और सज्ज सैनिकों को देख सारस चीखकर भागने लगे। उस स्त्री के हाथ में से घड़ा गिरकर टूट गया और वह पीछे फिरकर देखे बिना चली गई।

सेनाजित ने श्वास ली और घोड़े की लगाम खींची। चीखते हुए सारसों को देखता रहा। एकाएक उसे उनको मारने का मन हुआ,

लेकिन अंतर में लज्जा का अनुभव हुआ। ऐसे रमणीय स्थल में, जहाँ मृग और सारस निर्भय विचरण करते हैं, वहाँ एक ब्राह्मण की हत्या करने के लिए सौ शस्त्र-सज्जित सैनिकों को ले जा रहा है! उसे अपने पर क्रोध आया।

'बाक़ी सब लौट जाओ। दस मेरे साथ चलो।' उसने आज्ञा दी।

उसके अनुचर उसका उपहास तो नहीं कर रहे हैं। यह देखने के लिए उसने कठोरता से पीछे देखा और घोड़ा आगे बढ़ाया। समस्त नैमिषारण्य उसका उपहास कर रहा था! विस्तृत शान्ति और रमणीयता में वह और उसके आदमी विचित्र कलंक-रूप—हाँ, ऐसा ही लग रहा था।

३४

एक फूस की झोपड़ी के सामने एक आदमी आँख मींचे गौमुखी में हाथ रख बैठा था। सामने एक मृग मृगियों को रिझा रहा था। सैनाजित उस ओर गया, लेकिन उस आदमी ने न ऊपर ही देखा और न आँखें खोलीं। वह थोड़ी देर तक खड़ा देखता रहा। स्वाध्यायी जप में लीन रहा। मृग-मृगियाँ अपनी क्रीड़ा में व्यस्त थे। वृक्ष पर बोलते किसी पक्षी की ध्वनि के अतिरिक्त समग्र निस्तब्धता थी। सेनाजित के अशान्त मन को क्षण भर भी चैन न था। उसे उस मूढ़ पर घोड़ा दौड़ाने का मन हुआ। नरेन्द्र का एक प्रतापी अध्यक्ष, एक ध्यानस्थ व्यक्ति पर घोड़ा कैसे चढ़ाता है यह दिखाने के लिए मृग ने मृगी का ध्यान आकर्षित किया। मृग भी उसका उपहास कर रहा हो, ऐसा उसे लगा। उसने खीजकर घोड़े को सीधा आगे दौड़ाया।

वकुल वृक्षों के आस-पास रचित एक लता-मंडप था। एक पारिजातक अपने सुरभि के प्राणसम फूलों को उसके आस-पास बिखेरे

हुए बैठा था। उन पुष्पों को अपने घोड़े की टाप से कुचलता देख उसे अपनी शक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

उसके घोड़े की टाप सुनकर दो मृग प्राण लेकर भागे। एक हंस किसी के हाथ से छूट छोटे-छोटे वृक्षों की ओट में बहते जलाशय की ओर उड़ गया। दो छोटे-छोटे सिर लतामंडप मे से बाहर आये। दो श्यामल केशकलाप हरे पत्तों में सुशोभित हुए। चार भयाकुल सुन्दर आँखें उसे देख रही थीं।

ऐसी ही दो आँखें गौरी की थी, उसे दुष्ट विष्णुगुप्त चुरा ले गया था।

'भद्राक्ष का आश्रम कहाँ है?'

एक लड़की ने आगे बढ़कर दिशा-निर्देशन किया। जब तक विष्णुगुप्त इस पृथ्वी पर विद्यमान है तब तक कोई भी सुन्दर लड़की उसे आकर्षित नही कर सकती। वह आगे बढ़ा।

मधुर कंठ-स्वर तपोवन की शान्ति भंग कर रहा था।

अपा नपातमवसे सवितारमुपस्तुहि

जिधर से यह आवाज आ रही थी उस ओर वह गया, तो चारों तरफ़ छोटी-छोटी झोपड़ियाँ दीख पड़ीं। एक झोपडी के नीचे छः-सात शिष्यगण वेदोच्चार कर रहे थे। इस कालस्वरूप व्यक्ति को देखकर वे घबरा गये। इस सृष्टि में केवल वही अपवाद रूप था।

'भद्राक्ष कहाँ हैं?' उसने क्रोधित स्वर में पूछा! लड़कों को विस्मय हुआ। उनकी निर्दोष आँखे इस अपरिचित प्रश्न से विस्फारित हो गईं। एक बोल उठा, भद्राक्ष!'

'हाँ!' सेनाजित ने दाँत पीसकर कहा।

एक लड़के ने एक तरफ़ मुड़ती पगडंडी की ओर संकेत किया। सेनाजित उसी तरफ़ बढ़ा। लड़के, लड़कियाँ, मृग, तोते और हंस कब खत्म होंगे और कब उसका वह शत्रु मिलेगा?

उस पगडंडी पर बढ़ने पर विशालकाय वृक्षों से घिरा हुआ एक विस्तृत चौगान आया। वृक्षों के नीचे छोटी-बड़ी अनेक झोपड़ियाँ

थीं। वहाँ सामने कोई व्यक्ति बैठा हुआ था। बीच में एक विशाल वेदी का निर्माण किया हुआ था। वहाँ तीन-चार शिष्य हवन की लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहे थे। पास ही दृशद्वती के दर्शन हो रहे थे। उसका प्रवाह इस चौगान का स्पर्शकर मंथर गति से प्रवाहित हो रहा था। दोनों कूल सुन्दर पुष्पवृक्षों से शोभित थे। उस पार एक बगला ध्यानस्त हो बैठा था। इस स्थान पर मनुष्य, पशु और वनस्पति जीवनचर्या की अपूर्वता की आह्लाददायक स्वस्थता प्राप्त कर रहे थे।

'भद्राक्ष का आश्रम यही है?' कर्कश आवाज से सेनाजित ने पूछा। वह इस प्रश्न को पूछ-पूछकर ऊब गया था

एक तपस्वी खडा हुआ, 'हाँ, आप कौन हैं?' शान्त और मर्यादित प्रश्न से सेनाजित और भी कुपित हुआ। 'भद्राक्ष कहाँ है?' उसने ढिठाई से पूछा। वह तपस्वो भी प्रश्न करने की अपरिचित पद्धति से चौंका लेकिन 'पधारिये' कह वह उसे एक वृक्ष की ओर ले गया। इस अरण्य की रमणीयता, शान्ति, समय, और यह विनय उसके क्रोध को बढा रहे थे। जैसे-जैसे उसके क्रोध को बाहर निकलने का अवकाश न मिला त्यों-त्यों वह अन्दर ही अन्दर घुटने लगा।

एक वृद्ध वट वृक्ष के नीचे गये। उसके विस्तृत थाले पर एक ओर दो मोटी जड़ो के बीच मे लकड़ी का आसन जैसा था। दूसरी तरफ एक वृद्ध पुरुष मृगचम पर आँखें बन्द किये बैठा था।

वह पुरुष अत्यन्त ही वृद्ध लगता था। उसकी दाढ़ी और जटा श्वेत थी। उसके नेत्र सुघड़ थे। उसने वल्कल-वस्त्र धारण कर रखा था और लटकता हुआ स्वच्छ श्वेत यज्ञोपवीत उसके वाम स्कन्ध पर, जैसे हिमालय से गंगा उतरती है। इस प्रकार शोभा दे रहा था। ललाट पर भस्म का त्रिपुण्ड्र और हाथ और वक्षस्थल पर विभूति रमायी हुई थी। यह वृद्ध और तेजस्वी तपस्वी इस पुनीत, पुराण और सात्विक स्थल की प्रतिमा सदृश्य लगता था। उसके शान्त व्यक्तित्व में से शान्ति सर्वत्र प्रसरित हो समस्त अरण्य

को शान्तिमय बना रही थी। सेनाजित को इस समय शान्ति अथवा सात्विकता कुछ भी रुचिकर प्रतीत न होती थी। यह वृद्ध कौन है? उसे कहीं देखा हो ऐसा उसे अस्पष्ट स्मरण हुआ। वह उस बरगद के पास आया और उसने अशिष्टता से उस तपस्वी से पूछा, 'भद्राक्ष कहाँ है?' उस वृद्ध तपस्वी ने धीरे से नेत्र खोले, प्रफुल्ल कमलसम विशाल नयनों का सौम्य और स्नेहस्नात तेजोमय प्रवाह उसकी ओर प्रवाहित हुआ। सेनाजित ने भ्रूभंग किया। वह ऐसे ढागिया को पहचानता था। क्या वह पिघल सकता था?

'कौन से भद्राक्ष से काम है?' वृद्ध पुरुष जरा हँसे। वह हास्य महानता को भी परास्त करने वाला था। क्षोभ से उत्तेजित सेनाजित ने अधिक ढीठता दिखाई, 'भद्राक्ष—जिसका यह आश्रम है।'

वृद्ध पुरुष फिर हँसे। उनके नेत्रों में ममता ही थी और वह स्वयं इस ममता से प्रभावित हो प्रतिपल शैशव की अल्पता में सरकता जाता था। एक वृद्ध मृग आकर कुतूहलपूर्ण दृष्टि से निरख रहा था। उस वृद्ध ने उस पर हाथ फेंकना शुरू किया।

'जरा शान्त हो जाओ!' उन्होंने स्नेहयुक्त स्वर में कहा।

'भद्रा—' सेनाजित ने हठपूर्वक बोलना चाहा, लेकिन निकटवर्ती पगडन्डी से कई आदमियों को आते देख चौंका और बोलते-बोलते रुक गया। क्षोभ में उसने लगाम खींच ली थी, इससे घोड़ा खड़ा हो गया।

पगडण्डी पर से प्रथम, यज्ञोपवीत, दर्भ का वस्त्र, और भस्म से सुशोभित, उस तेजस्वी वृद्ध की युवावस्था का चित्र जैसा, प्रमन्डक आया। फिर कुमार आभि, शस्त्रविहीन एकमात्र पीताम्बर में, नंगे पैर, भस्म से आच्छादित, फिर सुमोहा महादेवी, भस्ममात्र से ही अलंकृत, एक वल्कल में; फिर शेष, केवल दर्भ के वस्त्र में, फिर अनेक दासियाँ और तक्षशिला के क्षुद्रक माल्लवों के अश्व, ऐसे ही सौम्य स्वरूप में, सब सादे और अनलंकृत और भस्माच्छादित—

घन, वैभव और शक्ति के कृत्रिम आडम्बरहीन नैमिषारण्य की निर्मलता आसकर पुनर्जीवन प्राप्त करनेवाले नर-नारीगण।

सेनाजित काँप उठा। इन सबके सामने स्वयं अश्वारूढ़, कवच और शस्त्र से सज्जित, क्रोधाविष्ट, अधैर्यवान, अशिष्ट, विनय-रहित! इस समस्त सृष्टि में कलंकरूप—पापरूप।

सब ने वहाँ आकर उस वृद्ध को साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। वृद्ध ने हाथ ऊँचाकर आशीष दिया, 'वत्स! आयुष्मान हो!'

महादेवी जिसे प्रणिपात करे, उनसे उसने किस प्रकार संभाषण किया था! यह विचार आते ही वह अत्यन्त लज्जित हुआ।

वृद्ध ने आशीर्वचन कह ममता से उसकी ओर देखा और कहा, 'वत्स! भद्राक्ष को ढूँढ़ रहे हो! आश्वलायन का वंशज भद्राक्ष मैं ही हूँ।'

सेनाजित को अपनी जीभ खींच लेने का मन हुआ। उसके रोम-रोम से आत्म-तिरस्कार और लज्जा टपक रही थी। वह घोड़े से उतरा और शस्त्र फेंक दिये, 'आचार्य, क्षमा करें!'

महादेवी ने तिरस्कार से उसकी ओर देखा। अब वह अन्तःपुर के कारावास में न थी। 'भगवन्! कृपाकर हमें तीर्थ बताइये।'

'वत्से! प्रसन्न हो!' कह कुलपति भद्राक्ष आश्वलायन उठे।

सेनाजित अल्पता का कटुतम आस्वादन कर रहा था! उसका सुनहरा कवच उसकी आत्मा को कुचल रहा था। 'वत्स!' कुलपति ने उसकी ओर मुड़कर कहा, 'जाओ, तुम और तुम्हारे मित्र शस्त्र-कवच उतारकर स्वस्थ होओ, और हम व्यासतीर्थ जा रहे हैं, वहाँ आ जाना। प्रमंडक तुम्हारी परिचर्या करेगा।'

वह खड़ा का खड़ा रह गया, और कुलपति महादेवी इत्यादि को ले मंद गति से चले गये। सब के चले जाने पर वह प्रमंडक के साथ एक झोपड़ी में गया, शस्त्र-कवच उतारे और व्यासतीर्थ जाने को

तैयार हुआ। 'आचार्य विष्णुगुप्त कहाँ हैं? वह कहीं नहीं दीखते?' बहुत देर से जीभ पर हिलगे हुए प्रश्न को पूछा।

'आचार्य मुनि उद्दालक के आश्रम को गये हैं।'

'वह यहाँ से कितनी दूर है?'

'लगभग दो योजन होगा।'

सेनाजित का हृदय प्रफुल्लित हुआ। विष्णुगुप्त का स्पर्श मात्र यहाँ असाध्य है, लेकिन यहाँ से दो योजन दूर एकान्त में कौन देखता है! वह दोनों सवेग व्यासतीर्थ गये। व्यासतीर्थ के सामने दृषद्वती विस्तार पा मंद वेग से प्रवाहित हो रही थी। दोनों कूलों पर वृक्ष झुक-झुककर निर्मल जल में अपना सौन्दर्य निरख रहे थे। स्थान-स्थान पर सारस और हंस तैर रहे थे। सामने के कूल पर विभूति का टीला और पास ही वरुण का मन्दिर था। धर्मात्माओं की इस मण्डली में समय किस प्रकार बीतेगा, इसका विचार करता हुआ, विष्णुगुप्त से मिलने में होते विलम्ब से आकुल सेनाजित कुलपति की बात सुनता रहा।

'भगवान् वेदव्यास ने यहाँ कई वर्षों तक तपस्या के उपरान्त तीनों वेद की रचना और इतिहास का उद्धार किया था।' कुलपति कह रहे थे। सेनाजित हँसा। यह अब भी पुरातन कथाओं के पीछे जीवन नष्ट करते हैं। उन मूर्खों को ज्ञात न था कि मगध के सिंहासन पर वेदविनाशक महापद्मनन्द का पुत्र राज्य करता है, और वह है उनका अध्यक्ष। चाहे तो समस्त अरण्य को जलाकर खाक कर सकता है।

'यहाँ तो कितने ही महात्मा तर गये।' शेष ने पूज्यभाव से कहा।

'इस पुण्योदक ने किसे नहीं तारा?······कहा जाता है कि पूर्व चक्रवर्ती मांधाता और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, राजा सगर और महर्षि और्व, पृथ्वीपति प्रतीप और पुरोहित सोमदेव यहीं पर स्नानकर सद्गति को प्राप्त हुए थे। जब भगवान् वेदव्यास इस अरण्य में तपस्या करते

थे तब हे वत्स ! वह यहाँ स्नानकर पावन हुए थे। और तपस्वीश्रेष्ठ, शान्तनु के पुत्र देवव्रत भीष्म, दान और वीरता में अद्वितीय कुन्ती-पुत्र कर्ण, और भगवान् पाराशर ने जिसे स्वहस्त से अर्घ्य दिया था ऐसे नरोत्तम कृष्ण वासुदेव—'

'झूठे, व्यर्थ; निरर्थक नाम,' सेनाजित बड़बड़ाया।

'भगवान् व्यास कैसे थे जब मैं उनकी कल्पना करता हूँ तो मुझे आपका स्मरण हो आता है।' शेष ने कहा।

'वत्स ! आजकल बहुत से लोग ऐसा ही कहते हैं, परन्तु कहाँ स्वयं सूर्य और कहाँ उनके तेज से आलोकित स्फटिक ! जैसी मैं उनकी कल्पना करता हूँ, तुम नहीं कर सकते।'

'ऐसे वह भगवान् कैसे होंगे ?' महादेवी ने पूछा। पाटलिपुत्र के अंतःपुर में भ्रष्टप्राय पूज्य भाव को वह विशुद्ध करने का प्रयत्न कर रही थी। सेनाजित मन ही मन हँसा। नरेन्द्रदेव की महादेवी, ऐसे निर्माल्य प्रश्न पूछ रही हैं, और वह स्वयं—जिसके शब्दों से महादेवी काँपती थीं—दीन-हीन मुख से खड़ा था !

'वत्स ! मेरे पितामह की बातों पर ही मेरी कल्पना का निर्माण हुआ है।' सुन्दर वार्धक्य में मोहक लगते कुलपति ने कहा, 'इस युग के क्षुद्र प्राणियों—हम लोगों—को भगवान् का क्या ध्यान आ सकता है ? इतिहास भ्रष्टप्राय हो गया था, वेदो का विस्मरण हो गया था, विद्यायें अधर्मियों के हाथ में पहुँच गई थीं, तब सत्यवती के उस सर्वदर्शी पुत्र ने पूर्ण तरुणाई में यहाँ—यह वरुणदेव का मन्दिर है वहाँ—तपश्चर्या की। अनेक बार जब मैं यहाँ अकेला बैठता हूँ तब जैसे वह थे वैसे मुझे दृष्टिगत होते हैं। फल-मूल खाकर रहते, भूमि पर सोते, वर्षों तक एकाग्रचित्त से सर्वविद्याओं का ध्यान करते उस कृष्णद्वैपायन को यहाँ विद्या और बुद्धि का ऐश्वर्य हाथ लगा। उनके फुल्लारविंद जैसे नेत्रों के सामने सकल सृष्टि शब्दरूप और शब्द-सामर्थ्य प्राणवरूप में प्रगटी। अनेक वर्षों तक निरन्तर तपश्चर्या करने

के उपरान्त उनका शब्दब्रह्म से साक्षात्कार हुआ। भगवान् स्वयं पार्थिवता त्यागकर शब्द-मूर्ति हुए। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सनातन शब्द के अवतार-रूप वह महात्मा भ्रमण करने लगे, तब से यह नैमिषारण्य शब्द की विशुद्धि सामर्थ्य का संरक्षक कोषागार बना।' वृद्ध कुलपति का मधुर, शान्त स्वर सब के हृदय मे पूज्यभाव प्रेरित कर रहा था। अपनी प्रिय कल्पना के विषय से सम्भाषण करते हुए कुलपति संयम न रख सके।

'वत्स!' उन्होंने आगे कहा, 'मत्स्यगन्धा के पुत्र द्वैपायन को मुनि पराशर यहाँ ले आये, और उन्होंने तपश्चर्या का प्रारम्भ किया, उसके बाद धरा कितनी ही बार चलायमान हुई। यादवों का नाश हुआ, जरासन्ध मारा गया, कुरुक्षेत्र में भारत नष्ट-भ्रष्ट हुआ। यादवस्थली में वासुदेव ने वैकुंठगमन किया। फिर परीक्षित ने सार्वभौम हो यहाँ यज्ञ किया तब तक उस महावराह ने ज्ञानसृष्टि का उद्धार किया! और तब विद्यायें अधिकारियों को मिलीं। पूर्वजो के इतिहास का स्मरण उनकी समृद्धि बना, और वेद के द्रष्टाओं ने जिस अवस्था में प्रथम दर्शन किया था वैसा ही—दैवी अपूर्वता मे सनातनता प्राप्तकर द्विजत्व पाया।' कुलपति ने हँसकर निःश्वास छोड़ी, 'कलियुग के आगमन के समय पूर्व युगों के सत्व सदृश्य भगवान् व्यास यहाँ दस सहस्र शिष्यों के साथ तपश्चर्या करते थे।'

'बहुत वर्ष तक जिये!' महादेवी ने कहा।

'काल स्वयं उनके पूजनार्थ रुक गया था।' कुलपति ने कहा।

'तब तो इस अरण्य की जाने क्या अपूर्वता होगी!' शेष ने कहा।

'वत्स! उनके छत्र के नीचे तपश्चर्या करते थे विश्वमनसम शिष्य कुलपति उद्दालक, पथिन के शिष्य कुलपति विदर्भी कौडिन्य, कुलपति देवप शौनक और कुलपति कवश के पुत्र महर्षि तुरकावशेयः, ऐसे महर्षिगण जिनके शब्द संजीवनी समान थे, जिनकी दृष्टि त्रिकाल को भेदती थी, जिनकी तपश्चर्या पृथ्वी को धारण करती थी, जिनके

संस्कार से नैमिषारण्य ब्रह्मांड का केन्द्र बना था। यहाँ से, वत्सो! धर्म का स्रोत प्रकट हुआ, और नीचे प्रवाहित होता-होता, राजत्व को निर्मल करता, लोकसंग्रह को मोक्ष-मार्ग निर्देशित करता, सबको इन्द्रिय-जय सरल बनाता, आर्यावर्त को देवभूमि-सा उज्ज्वल और पितृलोक-सा निर्मल बनाता।'

कुलपति फिर हँसे, सब ने गहरी साँस ली। इस वृद्ध ऋषि के शब्द-विमान पर बैठ सब की आत्मा भूतकाल में विचरने लगी और अकल्प्य सृष्टि की समृद्धि देख सब के अंतःकरण विशुद्ध और पूज्यभाव से प्लावित हो गये थे।

सेनाजित के हृदय में भी कुछ परिवर्तन हुआ। इस वृद्ध पुरुष में, इस व्यासतीर्थ में; इस नैमिषारण्य में जो रहस्य गुप्त थे वह उसे पहली बार ज्ञात हुए। उसे रोमांच हो आया। लेकिन फिर उसे हँसी आई। नैमिषारण्य पहले चाहे जो कुछ रहा हो। इस समय नरेन्द्र के प्रताप से भागे हुए, निर्वासितों का निवासस्थान है। और इन सब ने क्या किया? अकेले महापद्म ने अपने राज्य-काल में सब का मूलोच्छेद किया। लेकिन महादेवी के प्रश्न ने उसकी विचारमाला भंग कर दी—वह अपने हृदय के भावों को दर्शा रही थी।

'परन्तु भगवन्!' सुमोहा ने कटाक्ष से कहा, 'तब नरेन्द्र महापद्म नंद का जन्म न हुआ था। तब कलि का साम्राज्य न था। आज तो हमारे एक अध्यक्ष की स्वेच्छा के सम्मुख इस समस्त अरण्य का कुछ मूल्य ही नहीं।' कुलपति हँसे—पहले जिस प्रकार सेनाजित की ओर देखकर हँसे थे—ममता से। 'वत्से! महर्षियों ने यहाँ व्यर्थ जीवन-यापन नहीं किया। उनकी भस्म अभी इस भूमि पर पड़ी है, उनके शब्दों ने इन वृक्षों को अब तक अनुप्राणित कर रखा है। उनकी तपश्चर्या की प्रेरणा हमारा जीवन निर्मित करती है। महापद्म नैमिषारण्य नहीं भूल सकते। नैमिषारण्य उनका विस्मरण करेगा।

'सार्वभौम' होने की इच्छावाले जनमेजय परीक्षित का दृष्टान्त कौन नहीं जानता !'

'वह क्या है ?' आंभि ने पूछा।

'वह विभूति का टीला देख रहे हो ?' कुलपति ने अपने सामने वाले किनारे पर टीले की ओर संकेत किया, 'उसका नाम सत्रश्रृंग है। उसकी भी कथा है।'

'कौन-सी ?' महादेवी ने पूछा।

'पार्थ के पौत्र परीक्षित की कथा तो जानते हो न ? उस पार इस श्रृंग के पास पराशर की कृपा के आकांक्षी कौरवों ने पहला सत्र किया। अथर्वण उन्हें मृत्यों के परे, देवता बताते हैं। फिर उसके पुत्र जनमेजय ने समस्त पृथ्वी की विजयकर यहाँ पर अश्वमेध यज्ञ किया। कुलपति इन्द्रोत देवाप शौनक जैसे महर्षि ने ऐन्द्रमहाभिषेक से उसे दुर्जेय किया, तब वह बोला, 'मुझे दिव्य या मनुष्य नहीं पा सकते। मैं सर्वआयु जीऊँगा। मैं सर्वभौमीष होऊँगा।'

'फिर ?'

'हे वत्स ! महर्षियों के तपबल से संरक्षित परीक्षित ने पृथ्वी विजय की और फिर यहीं पर अश्वमेध यज्ञ किया। तब विजयोन्मत्त जनमेजय के गर्व की सीमा न रही। उसे आभास हुआ कि उसी की कृपा से नैमिषारण्य प्रभावपूर्ण स्थल बना है। उसने तपस्वियों का तिरस्कार किया, विद्या की बिडम्बना की, धर्म को चरण-रज समझा। आंभि ! सामान्य जनों को संयम आवश्यक है और उससे अधिक आवश्यकता राजाओं को है। अन्त में अपने गर्व के भार से उसकी मृत्यु हुई और यहाँ इस सत्रश्रृंग पर, अश्वमेध की पवित्र भूमि पर कुलपति द्रुति ऐंद्रोत ने उसके पुत्र शतानिक को पृथ्वीपतित्व स्वीकार किया। वत्से ! नंदों का तप जहाँ तक तपता है वहाँ तक ठीक है, परन्तु विद्याविहीन राजत्व सदैव चलायमान है।'

'भगवान्! ऐसे पाटलिपुत्र में कुछ सुनाते जाइये तो अच्छा होगा, कुछ हमारा भी उद्धार हो।'

कुलपति ने हँसकर फिर कहा, 'वत्से! चाहे जिस मुख से, चाहे जहाँ, विद्या का उच्चारण हो वहीं नैमिषारण्य है। यहाँ से जिन शब्दों का आविर्भाव होगा वही शक्तिसम्पन्न होते हैं, जो ज्ञान प्रकट होता है वही शान्तिदायक है। कारण कि जिसे यहाँ की तपोमयता स्पर्श करती है वही सनातन होता है। अब विलम्ब हो रहा है, तुम नहा लो।'

सेनाजित ने जैसे ही स्नानार्थ डुबकी लगाई, जैसे ही दृषद्वती के नीर का उसके अंग-प्रत्यंग से स्पर्श हुआ, वैसे ही उसके पाटलिपुत्र के सस्कार उसे छोड़कर प्रवाहित होने लगे, और जब उसने अपनी दृष्टि किनारे पर खड़े स्मित से शान्त और सद्भाव फैलाते कुलपति पर पडी तो उसे अपनी समस्त अधमता खिसकती हुई ज्ञात हुई। तत्काल उसकी कर्तव्यपरायणता सतेज हुई! गौरी को चुराकर ले जानेवाला, उसकी विडम्बना करनेवाला दुष्ट विष्णुगुप्त का उसे स्मरण हुआ। उसने ज़रा सी भी निर्बलता के लिए हृदय में स्थान न रखने का संकल्प किया और किसी भी प्रकार विष्णुगुप्त को खोजकर उसे मार डालने का प्रण किया। पाटलिपुत्र ही उसका है, वह पाटलिपुत्र का था और नैमिषारण्य और उसके निवासी उसको सृष्टि के कलंक-स्वरूप लगे।

३५

स्नानकर सब एक शृंग पर स्थित वरुण के मन्दिर में गये। मन्दिर छोटा और खुरदरी प्रस्तर-शिलाओं का था और उस पर एक वृद्ध पीपल अपनी छटा विस्तृत कर रहा था। वहाँ दर्शन करने के उपरान्त मध्याह्न तक सब आश्रम लौटे। साथ में सेनाजित भी गया।

सेनाजित को ज्यों-ज्यों इस स्थान का परिचय मिलता गया त्यों-

त्यों उसका पूज्य-भाव जाग्रत होने लगा। पग-पग पर जो वृद्ध, अधेड़, युवक और बालक मिलते थे वह कुलपति को प्रणिपात करते और वह हँसकर आशीर्वचन कहते। समस्त स्त्री-पुरुषों के मुख पर, विष्णुगुप्त के मुख के समान ही किसी पर अधिक तो किसी पर कम—निश्चल शान्ति थी। कोई गौरवहीन न था, कोई दंभी न था। सब आत्मनिष्ट और विद्वान् दीखते थे। शेष, आंभि और महादेवी जैसे प्रतिपल निर्मल हो रहे हों ऐसा प्रतीत होता था। वह अकेला विषधर था। वह मन ही मन क्रूरता से हँसा। हाँ, वह विषधर था, नंद के दरबार का विषधर, और इन सब को विषमय करना ही उसका कर्तव्य था।

आश्रम आने पर जिस चौगान में उसे कुलपति मिले थे वहाँ सब आये। वहाँ अनेक स्त्री-पुरुष चौगान को लीपकर पवित्र कर रहे थे।

महादेवी ने इसका कारण पूछा।

'वत्से!' कुलपति ने कहा : 'यह स्थल व्यासतीर्थ और सत्रश्रृंग के ही समान पवित्र और फलदायी है। इसको आज तुम्हारे अध्यक्ष ने भ्रष्ट किया, अतएव इसे फिर से विशुद्ध कर रहे हैं।'

सब ने तिरस्कार से सेनाजित की ओर देखा। वह लज्जा के मारे गड़-सा गया, आँख ऊँची करने का उसमें साहस न था। उसने केवल हाथ जोड़े।

'वत्से! होगा।' औदार्य से हँसकर कुलपति ने कहा, 'इसे क्या खबर कि जिस पुण्य भूमि को वह घोड़े की टाप से उखाड़ रहा था वहाँ की वेदी को नंद से अधिक महाप्रतापी नराधिपों और तप तथा ज्ञान में महान् ऐसे महर्षि तक प्रणिपात कर गये हैं! वत्से! यह अग्नि कुलपति शौनक ने जब बारह वर्ष का सत्र प्रारम्भ किया था तब प्रगट की थी।'

'ओ-हो!' महादेवी ने कहा। सेनाजित भ्रष्ट की हुई अग्नि की ओर देख रहा था।

'तब सूत पौराणिक ने यहीं भारत का पारायण किया था ?' शेष ने पूछा।

कुलपति के श्रोतावृन्द उस महाप्रसंग से परिचित थे। और वह प्रसंग यहीं हुआ जान उनके हृदय की कल्पना उत्तेजित हो उठी। सेनाजित के हृदय में भारत जो कथा-सा था वह वास्तविक रूप में प्रगटा। उसने अग्नि की तरफ देखा। इसी अग्नि के सम्मुख भारत के नरेन्द्रो ने महाभारत सुनी थी! ऐसी सनातन अग्नि की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा हो ऐसा उसे लगा।

'वत्स!' कुलपति शेष को उत्तर देते हुए बोले, 'हाँ, इसी स्थान पर मेरे आश्रम के इन वृक्षों ने सूतश्रेष्ठ लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा के शब्दों को संचित कर रखा है।'

महादेवी कल्पना से सब कुछ देख रही हो इस प्रकार उसने चारों ओर देखा।

'वत्से!' कुलपति ने कहा, 'इसी वृक्ष के नीचे, जहाँ मैं बैठा हूँ कुलपति शौनक शिष्यों सहित बैठते थे। शेष बैठे हैं वहाँ पुरुश्रेष्ठ जनमेजय के पौत्र अधिसीम कृष्ण, उनके पुत्र निचक्षु के साथ विराजते थे! और इस ओर मगधराज सेनाजित अपने महारथियों सहित विराजमान थे। अपूर्व युग था—जब आर्यावर्त्त में शक्ति और संस्कार का वैपुल्य था और धर्म की देवदुन्दुभी से दसों दिशाएँ प्रति-ध्वनित थीं।'

'भगवन्!' महादेवी ने कहा, 'तब नैमिषारण्य में महर्षियों में श्रेष्ठ ऐसे कौन थे?'

'नैमिषारण्य का तब मध्यान्ह काल था और इस आश्रम का भी।'

'ऐसा क्यों कहते हैं?' प्रमंडक ने सबहुमान कहा, 'भगवान् आश्वलायन के समय भी ऐसा ही था।'

'नहीं,' कुलपति ने गर्दन हिलायी, 'भगवान् व्यास के पश्चात् महर्षियों में उद्दालक आरुणि की बराबरी करने वाला कोई उपस्थित है! महर्षि अरुण जैसे के पुत्र और महर्षि श्वेतकेतु जैसे के पिता। कुलपति उनके शिष्य थे, कौशाम्बी के मोती कोसुरुबिंदी, ज्ञानियों में श्रेष्ठ

ऐसे याज्ञवल्क्य वाजसनेय, और कौशीतकि। उनके दिव्य चक्षुओं ने आत्मा और परमात्मा का भेद जाना, और ॐकार का साक्षात्कार किया था! उनकी वाणी के प्रभाव से संहिताएँ आरण्यक और उपनिषद सजीव हुए। उनकी प्रेरणा से उनके शिष्य इस आर्यावर्त को उज्ज्वल करते थे। हाँ, कबंधी कात्यायन, सुकेशा भारद्वाज,—भगवान् गुणाख्य सांख्यायन पौष्किरसादि तथा—'

'अब चिन्ता न करें, ऐसे कोई नहीं होने के!' महादेवी ने कटुता से कहा।

'वत्से!' मेरे समय में ऐसे महर्षि इकट्ठे हुए, मैंने नहीं देखे हैं, लेकिन फिर होंगे इसका मुझे विश्वास है।'

'किस प्रकार?' आंभि ने हँसकर पूछा।

'वत्स, इसका निश्चय करना तेरे हाथ में है। मेरे दो पुत्र तू ले गया है, उन्हें लौटा दे—प्रमंडक और विष्णुगुप्त।' कुलपति हँसे, 'अरे अपना विष्णुगुप्त ही मुझे दे दे, तब भगवान् द्वैपायन के समान नैमिषारण्य बना दूँ।' सेनाजित ने कान खड़े किये, फिर विष्णुगुप्त आया!

'भगवन्!' शेष ने नम्रता से कहा, 'नैमिषारण्य तो यहाँ पड़ा है और हमें नैमिषारण्य घर के सामने चाहिये। उन्हें हम वापिस दे दें तो यह कौन करेगा?'

सेनाजित चौंका। यह शान्त, रमणीय नैमिषारण्य और उस दुष्ट आचार्य के बीच क्या साम्यता!

'मै जानता हूँ। इसीलिये तो मैंने उसे तुम लोगों को सौंपा है।' कुलपति हँसे।

'अच्छा!' सेनाजित बडबड़ाया।

'या हम सब को उन्हें सौंप दिया है।' कुमार आंभि ने हँसकर कहा।

'हम लोग उनको जीवित रहने देंगे तब न?' कटाक्ष से महादेवी ने कहा।

'वत्से!' गाम्भीर्य से कुलपति ने कहा, 'नैमिषारण्य जैसी पुण्य-भूमि के भूत और वर्तमान का महर्षियों के आशीष संरक्षण करते हैं।'

सेनाजित अपने मन में कटुता से हँसा—वह आशीष अब उसका संरक्षण न कर सकेगा।

'भगवन्!' प्रमंडक ने कहा, 'भोजन का समय हुआ।'

'चलो!' कुलपति ने कहा।

सेनाजित को भोजन करते समय यहाँ आने का कुछ बहाना खोज निकालने का अवसर मिला। आभिकुमार से उसने कहा कि महादेवी इत्यादि निःशंक होकर स्वदेश पहुँच जायँ इसलिये नरेन्द्रदेव ने उसे भेजा है। यह सुनकर सब हँस पड़े, कारण कि किसी को यह बहाना विश्वसनीय न जान पड़ा। सेनाजित को लगा जैसे सब उसको मूर्ख समझते हों। सचमुच वह मूर्ख ही तो था। क्यों? इसलिए कि नैमिषारण्य की पवित्रता से प्रत्येक घर को पावन करने का प्रयत्न करने वाले विष्णुगुप्त की हत्या करने आया था या ऐसी निरर्थक बातें सुनकर वह स्वयं संशयात्मा हुआ था इसलिए?

दोपहर को सब यात्री विश्राम करने लगे। वह भी सोया। वातावरण और तपस्वी की बातों से प्रभावित होकर उस पर मनन करता हुआ आज बहुत दिनों बाद सुखपूर्वक सो सका था।

वह उठा तब सन्ध्या होनेवाली थी। और सब चले गये थे। एकमात्र छोटा शिष्य उसकी झोपड़ी के पास बैठा था। उसे जहाँ जाना हो, ले जाने की उसे आज्ञा थी।

सेनाजित ने उस शिष्य से बातें करना प्रारम्भ कीं। शेष कुलपति के पास बैठा था, कुमार आभि एक शास्त्रपारंगत ऋषि का प्रवचन सुन रहा था। महादेवी तापसी बालाओं से बातें कर रही थीं। कोई उपनिषद् सुनने गया था तो कोई इतिहास-पुराण सुनने।

'तब यहाँ कोई शस्त्राचार्य नहीं है ?' सेनाजित ने धीरे से पूछा।

'शास्त्राचार्य के जाने के बाद अभी कोई नहीं है।

'कौन शास्त्राचार्य है ?'

'कद्रु आचार्य।'

कद्रु—वृद्ध अग्निहोत्री का मूर्ख पुत्र ! सेनाजित विचार करने लगा। फिर उसने पूछा, 'विष्णुगुप्त कुछ सिखाते हैं ?'

शिष्य ने सम्मानपूर्वक दृष्टि ऊपर की। 'आचार्य चाणक्य पहले सिखाते थे।'

'क्या ?'

लड़का हँसा। 'शस्त्र और शास्त्र दोनों। जो चाहिये वह। इन विषयों के आचार्य जो हैं।' उसने पूज्यभाव से कहा।

'वह कहाँ गये हैं ?'

'सबेरे आकर चले गये।' निर्दोष लड़के ने कहा।

'कहाँ ? मुझे उनसे मिलना है।' सेनाजित ने कहा।

'शायद मुनि उद्दालक के आश्रम को।'

'वह कहाँ है ?'

'वरुण देव का मन्दिर है न वहाँ से ऊपर-ऊपर जाकर एकदम शिखर पर उनका आश्रम है।' कह उसने दूर एक शृंग की ओर संकेत किया।

'वह कौन हैं ?'

'महान् तपस्वी हैं ! दो सौ वर्ष के हैं ऐसा लोग कहते हैं, और अकेले रहते हैं।'

'अकेले !' सेनाजित ने कहा।

वृक्षों की छाया लम्बी होने लगी, पवन शीतल होता गया। विहंगों का कलरव बढ़ने लगा।

लोग सायं-सन्ध्या करने के लिये दृषद्वती के शान्त जल में जा

खड़े हुए। आश्रम अधिक सुरम्य होता गया। सेनाजित को इनमें से किसी भी वस्तु को देखने की अभिलाषा न थी। मुनि उद्दालक का आश्रम किधर है यह देखने के लिए वह वरुणदेव के दर्शन के बहाने गया। वहाँ से एक पगडण्डी पर्वत पर जाती थी।

'मुनि उद्दालक का आश्रम इस पर्वत पर है?'

'हाँ।'

'लेकिन वहाँ अकेले रहकर क्या करते हैं?'

'तपश्चर्या!' लड़के ने प्रश्न मे निहित अज्ञान पर हँसकर कहा, 'मुनि और क्या करते हैं!'

दो सौ वर्ष का मनुष्य अकेला रहकर तपश्चर्या करे, वहाँ विष्णुगुप्त जाय यह बात सेनाजित के गले न उतरी! रात होने पर वह अपनी झोपड़ी के पास आया। आंभि और उसका एक शस्त्र सज्जित योद्धा उसकी प्रतीक्षा में बैठे थे। अँधेरे मे कौन बैठा है यह जानने की उसने परवाह नहीं की।

'सेनाजित!' आंभि ने पास आकर कहा। उसका कद्दावर शरीर उस पर हावी हो रहा था। 'महादेवी की कार्य-पद्धति देखने आया है, लेकिन यह तेरा अंतःपुर नहीं है।'

'नहीं-नहीं।'

'तू यहाँ से कब जायगा?' कुमार आंभि ने अधीर होकर पूछा।

'आपकी आज्ञा हो तभी।' उसने विनयपूर्वक बोलने का प्रयत्न किया।

'ठीक, यह समझदारी की बात है। जा कुलपति के दर्शनकर चला जा—जल्दी। सावधान, हमारे पीछे-पीछे आया तो...'

'कुमार!' गर्व से सेनाजित ने कहा, 'मुझे तो अपने स्वामी की आज्ञानुसार काम करना है।'

'जो मेरे साथ रहेगा, उसे मेरी आज्ञानुसार ही काम करना पड़ेगा। जाओ!' आंभि ने भी उसी गर्व से कहा, 'तुझे जीवित जाने देता हूँ और तुझे आज्ञा देनेवाले को जाकर मेरा संदेशा देना।'

'क्या?'

'कि फिर तक्षशिला के कुमार के संरक्षक के लिए सैन्य न भेजें, मैं स्वयं अपनी रक्षा कर सकता हूँ। और यह भी कहना कि जिन आदमियों को उन्होंने भेजा था उनमें से आधे तो भाग गये और बाकी ने शस्त्र रख दिये हैं।' कुमार ने हँसकर कहा, तू सशस्त्र नैमिषारण्य में घुसा इसलिये प्रायश्चित करना पड़ा।'

'लेकिन मेरा सैन्य!' सेनाजित यह समाचार सुनकर स्तब्ध रह गया।

'हाँ।' आंभि खिलखिलाकर हँसा। 'तेरे सैन्य में तू और तेरे यह दस अनुचर।'

'लेकिन नरेन्द्र!' हार से खीझकर साभिमान बोलने का प्रयत्न करते हुए सेनाजित ने कहा।

आंभि ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा, 'सेनाजित! यह कद्रु ज़रा खराब स्वभाव का मनुष्य है—यह विश्वसनीय नहीं।' सेनाजित निकट खड़े हुए व्यक्ति की तरफ फिरा। सबेरे देखा हुआ यह शास्त्राचार्य!

'अग्निहोत्री का लड़का कद्रु!'

'अरे!' कद्रु के खिलखिलाकर हँसने का स्वर सुन उसे क्रोध हो आया। 'सबेरे मुझे साथ में न आने दिया तो क्या करूँ? पधारिये, आपके घोड़े और शस्त्र नैमिषारण्य की सीमा पर आंभि-कुमार की छावनी में पड़े हैं।'

'यह आपका आश्रम! यह आपके ऋषि और यह आपकी विद्या!'

कुमार आंभि ने कठोरता से सेनाजित के कन्धे पर हाथ रखा। 'सेनाजित! चुपचाप चला जा। जब तेरे जैसे निकन्दन करनेवाला

आदमी निकल आवे, तो रक्षण करनेवाला भी कोई निकल ही आता है न ?' आंभि ने सेनाजित के कन्धे पर भार रखकर कहा।

'अब सिधारिये अध्यक्षराज !' कद्रु ने कहा।

'कुलपति के दर्शन करके जाना।'

सेनाजित ने जरा बुद्धि से काम लिया। भग्नगौरव दस योद्धा कुलपति को प्रणामकर बाहर निकले।

'मैं पहुँचाने आऊँ ?' कद्रु ने पूछा।

'नहीं।' क्रोध दबाकर खिन्न मन से सेनाजित ने उत्तर दिया।

३६

अशक्तिमान के अशक्त होने पर उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है; और शक्तिमान जब शक्तिहीन हो जाता है तो उन्मत्त बनता है। सेनाजित उन्मत्त हो गया था। उसने आचार्य को पाटलिपुत्र में मार डाला होता; उस रात्रि को उनके निकलने के पहले ही जला दिया होता; नैमिषारण्य में आग लगा दी होती, मगध की सीमा के बाहर होते ही कैद किया होता; स्वयं आचार्य के पीछे चुपचाप गया होता; चार हजार सैनिक ले अरण्य पर टूट पड़ता तो अच्छा होता। लेकिन उसने कुछ न किया। स्वयं मूर्ख था। केवल मूर्ख ही नहीं, वरन् आत्मसंतोषी मूर्ख, हठी, मूढ, हास्यास्पद, निर्माल्य—मूर्खता भी भली प्रकार प्रदर्शित न कर सके ऐसा मूर्ख !

उसने, नंद के अध्यक्ष ने, आश्रित-पुत्र ने, ब्राह्मण-कन्या के साथ प्रेम क्यों किया ? उसका मोह क्यों किया ? एक दुष्ट ब्राह्मण से ईर्ष्या किस लिये की ? भद्राक्ष को मान क्यो दिया ? उसके स्मरण कराये उन महापुरुषों के प्रति पूज्य-भाव किस लिये हृदय में होने दिया ?

क्या उसे पितृगण का शाप लगेगा ? क्या उसकी सेना भाग गई ? वह निशस्त्र हुआ ! क्यों ? किस प्रकार ?

अब वह कहाँ जायगा ? किस मुँह से फिर पाटलिपुत्र जायगा ? किस मुँह से नरेन्द्रदेव से मिलेगा ? मूर्ख !

उसके अंग-प्रत्यंग काँप उठे, उसका श्वास अवरुद्ध हो गई। केवल अन्धकार उसके मुख पर के राक्षसी भावों को छिपा रहा था।

सहसा उस अन्धकार में प्रताप से कम्पित नरेन्द्र और धूर्तता में प्रायः शान्त वक्रनास दीखे। वह उस पर भरोसा रखकर बैठे थे। वह सेवक था। उसके स्वामी उसकी कर्त्तव्यपरायणता की सिद्धि की बाट देख रहे थे।

नद शूद्र थे। ब्राह्मणों के द्वेषी थे। भद्राक्ष जैसे अरण्यवासियों के काल थे। ऐसे पाखण्डियों की विद्या के शत्रु थे। वेद और वर्णाश्रम, मोक्ष और तपश्चर्या को अवहेलना करते थे। व्यास, उद्दालक और याज्ञवल्क्य को भूल बैठे थे। अपनी सत्ता के स्रष्टा स्वयं वही थे। उन्होंने अपने बल और नीति के द्वारा इन सब के समन्वय से भी कुछ न हो सके ऐसे राज्य की स्थापना की थी। उसका नमक उसने खाया था। इन सबसे उसका क्या सरोकार ?

लेकिन इस समय वह तुच्छ, छिपकर भागनेवाला अधम प्राणी था। प्रतापी नंद का वह एक अंग था।

उसको इस जन्म में लेशमात्र भी आशा न थी कि उस जैसे मूर्ख के लिये नंद के राज्य में या दरबार में कोई स्थान था। उसके लिये गौरी न थी; कीर्ति न थी। आंभि ने उसे मार क्यों न डाला ? वह स्वयं कद्रु के साथ भिड़कर कुचल क्यों न गया ?

कृष्ण-पक्ष की दूज का चाँद निकलने का समय था। वृक्षों के बीच से उगने का आभास होने लगा। तपोवन उसे धक्का देकर निकाल रहा हो ऐसा उसे प्रतीत हुआ। वह क्या था ! केवल एक काली छाया !

लेकिन अभी उस छाया में चेतना थी—शक्ति थी। उससे कुछ न होगा ? अवश्य होगा। वह एक ही वस्तु होगी। विष्णुगुप्त ही इस

समग्र बवंडर और अधमता का मूल कारण है। भद्राक्ष ने कहा था न कि 'यदि विष्णुगुप्त आ जाय तो भगवान् द्वैपायन के सदृश्य नैमिषारण्य बना दूँ!' नैमिषारण्य अर्थात् वह, गौरी अर्थात् वह, और कीर्ति अर्थात् वह, नरेन्द्र की कृपा अर्थात् वह। उसका समस्त जीवन उसके कारण निरर्थक हो रहा था। अगर वह स्वयं उसकी हत्या करे तो? चाहे नैमिषारण्य के महर्षियों की आशीष उसका संरक्षण कर रही हो!

एक ही वस्तु उसे सत्य लगी, दूसरी असत्य: पृथ्वी पर विष्णुगुप्त और सेनाजित दोनों के लिए स्थान न था। उसने आज्ञा दी। उसके आदमी लौटे और चुपचाप वरुण के मन्दिर की ओर जाने लगे। चन्द्र का प्रकाश बढ़ने लगा। उसके जीवन का एक ही लक्ष्य था: विष्णुगुप्त की मृत्यु।

वृक्षों की ओट में होता हुआ वह सवेग वापिस लौटा। आश्रम के वृक्षों में से ज्योत्स्ना प्रसारित हो रही थी। निर्झरों का जल चन्द्रिका के साथ नाच रहा था। समस्त आश्रम काव्यमय प्रकाश से प्रकाशित हो उठा। आकाश की ओर उसका ध्यान न था। उसका समस्त जीवन अंधकारमय पथ-सा एकाकी, भयानक हो गया था, और अन्तिम गिरिशृंग से लटकता विष्णुगुप्त का सिर एक प्रदीप के समान उसको आकर्षित कर रहा था।

वह छिपता हुआ आश्रम के यज्ञकुण्ड के सम्मुख आया। उसने कुलपति शौनक को आशीर्वाद देते देखा। उद्दालक आरुणि और याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को हँसते देखा। पुरुषश्रेष्ठ अधिसीम कृष्ण और मगधराज सेनाजित को मूँछों पर ताव देते देखा। यज्ञकुण्ड की सनातन ज्वालाएँ उसे जलाती प्रतीत हुईं। क्या वह स्वप्न देख रहा था? उसने आँखें मलीं। लोगों ने चाहे जितना सुन्दर अरण्य निर्मित किया हो — वह उसका विनाश करने के लिए अवतरित हुआ है। यदि सृजनकर्ता महात्मा हैं, तो विनाशक भी अवश्य है। वह हँसा। पृथ्वी रसातल जायगी तो वह भी उसी के द्वारा!

वह आँख मींचकर आगे बढा। चन्द्रमा आकाश में और आगे बढ़ आया था। वृक्ष, दृषद्वती, आस-पास की पर्वत-मालाएँ ज्योत्स्ना में तेजोमय रमणीय शान्ति से देदीप्यमान हो उठीं। लेकिन यह मोहक वातावरण उसे त्रासदायक लगा। उसकी आत्मा के अन्धकार मे यह कौमुदी कलंक-रूप थी। दूर किसी हिंसक प्राणी का शब्द सुनकर वह अधिक उत्तेजित हो उठा। कोई एक था अवश्य जो इस रूप रसार्द्रता—इस शान्ति से ईर्ष्या कर रहा था।

वह वरुण के मन्दिर के पास पहुँचा। जैसे भगवान् वेदव्यास सामने खड़े हुये उसे भयभीत कर रहे हो—मन्दिर की ओर देखने का साहस न हुआ। उसने चार आदमियों को वहाँ तैनात किया और आज्ञा दी कि आचार्य विष्णुगुप्त के उतरने पर वह उनका काम तमाम कर दें।

वह सवेग पर्वत पर चढ़ने लगा। नीचे छूटती ज्योत्स्ना स्नात पृथ्वी अधिक मोहक हुई और उसकी द्वेषाग्नि को प्रज्वलित करने लगी। उसकी पगध्वनि से मृग भागे जा रहे थे। वह हँसा—मृगों को उसकी विनाशकता का ज्ञान अवश्य हुआ है।

उसकी दृष्टि सामने वाले शृंग पर पड़ी। उसने चौककर आँख पर हाथ फेरा। पुरोहित दुति ऐंद्रोत चक्रवर्ती जनमेजय को दर्भ द्वारा मारे डाल रहे थे!

पुरोहित का मुख विष्णुगुप्त के सदृश्य था—जनमेजय नंद जैसा लगा। उसने मुट्ठियाँ बाँध ली। जब तक सेनाजित है तब तक विष्णु-गुप्त ऐसा नहीं कर सकता!

पगडण्डी एकदम सीधी ऊपर चली गई थी, अतएव उसे निर्विघ्न रूप से पर्वत पर चढ़ने में कोई असुविधा न हुई। शान्त ज्योत्स्ना नैमिषारण्य की मोहिनी को किस प्रकार बढ़ा रही थी यह देखने के लिए वह एक बार भी न मुड़ा।

पगडण्डियों के बीच मे फटते मार्गों में उसने दो-दो आदमियों को नियत कर दिया। अब उसे किसी प्रकार का भय न था। विष्णुगुप्त को मारकर, नैमिषारण्य को फूँककर, उसे नंद का प्रभाव अमर करना था। अगर गौरी को अपने पूर्वजों का स्मरण होगा तो हुआ करे, इसकी उसे क्या परवाह! पृथ्वी पर कोई ऐसा न रहना चाहिये जो नैमिषारण्य अथवा उसके महर्षियो का स्मरण भी दिला सके। महापद्मनन्द सृष्टि के स्रष्टा थे। ब्राह्म मुहूर्त हुआ। नीचे नैमिषारण्य से वेदोच्चार की ध्वनि, पवित्र, उद्धारक और प्रेरणावाहक ऊपर आई और वृक्षो पर वहती-बहती उसकी मेघ सदृश गम्भीर प्रतिध्वनि उसके कान में पहुँची। उसने होंठ चबा-कर कान बन्द करने का प्रयत्न किया। ध्वनि और तीव्रतर होती और उसे चारों ओर से लपेटकर ऊपर ले जाती हुई प्रतीत हुई।

वह ऊपर चढ़ा। अन्त में केवल वह और शत्रुघ्न रह गये। पूर्व में आलोक के साथ ही नक्षत्र क्षीण होने लगे।

अब सूर्योदय होगा, विष्णुगुप्त पकड़ा जायगा, एक पृथ्वी पर दो व्यक्ति कैसे रह सकते हैं? देखता हूँ—वह मन में वोला। एक स्रोत मिला। वहाँ कोई पानी भर रहा हो ऐसा शब्द हुआ। वह और शत्रुघ्न वृक्ष की ओट में छिप गये। एक रीछ घड़े में पानी भर रहा था।

उसने आँखें फाड़कर देखा। उसकी सुधि लुप्त हो गई। पानी भरनेवाला रीछ नहीं बल्कि एक मनुष्य था। उसका समस्त शरीर पीले पड़ गये श्वेत बालों से आच्छादित था। उसकी दृष्टि निस्तेज थी और कमर झुकी हुई। वृद्धावस्था उसके अंग-प्रत्यङ्ग से झलकती थी।

सेनाजित ने सोचा कि यही मुनि उद्दालक होने चाहिये।

'वृक्ष की ओट से बाहर आ! मृग और खरगोश भी जिससे नहीं डरते उससे क्यों डरता है?' बोलनेवाले की भाषा अत्यन्त पुरातन थी और वह उनका विचित्र प्रकार से उच्चारण कर रहा था। सेनाजित बाहर आया। आप ही मुनि उद्दालक हैं?'

'हाँ।'

सेनाजित हर्षित हुआ। उसकी गृहदशा बदलने लगी।

'आचार्य विष्णुगुप्त कहाँ हैं?'

'भगवान वेदव्यास की चरण-पादुका के दर्शनार्थ गये हैं।'

'किधर से जाया जाता है?'

मुनि ने हाथ से दिशा बतायी और सेनाजित और शत्रुघ्न उधर चले। इससे अच्छा और क्या? विष्णुगुप्त अकेला, एकान्त में—और वह दो जने! सेनाजित हँसा; विष्णुगुप्त की मृत्यु—गौरी, कीर्ति, प्रतिष्ठा और नरेन्द्र की विजय! 'नरेन्द्र की जय' वह बड़बड़ाया। उसका आत्म-तिरस्कार जाग्रत हुआ। कैसी सुन्दर सृष्टि का विनाशक है वह, भद्राक्ष, नैमिषारण्य, वेद, वर्णाश्रम, विद्या! वह हँसा। भले ब्रह्माण्ड चकनाचूर हो, उसे क्या! लेकिन पृथ्वी पर दो व्यक्ति कैसे रह सकते हैं!

वह दोनों चले गये तो मुनि उद्दालक ने पानी भरा। सूर्य की किरणें फूटीं। क्षण भर के लिये सेनाजित ने उस ओर देखा। सारा नैमिषारण्य अर्घ्य दे रहा होगा लेकिन उसे क्या! उसके मन अर्घ्य और सवितानारायण—दोनों व्यर्थ थे!

पगडण्डी एक ऊँची, अधर लटकी हुई बड़ी ढालू चट्टान की ओर जाती थी। वह दोनों दौड़ पड़े। वहीं उद्दालक रहते होंगे!

वह चट्टान पर आये। जैसे वृक्ष के तने में एक घर हो इस प्रकार उस अधर ढालू शिला में एक गुफा थी। उसके पास होकर पगडण्डी जाती थी।

एक आदमी गुफा के सामने पगडण्डी रोके खड़ा था। सेनाजित ने शत्रुघ्न को सावधान होने को कहा और वह आगे बढ़ा। सामने वह आदमी कमर पर हाथ रखकर खड़ा था।

'कौन रुद्र!' सेनाजित ने भयाकुल हो तिरछे खड़े हुए आदमी को देखकर कहा।

'क्यों, निषेध करने पर भी आया?' भयानक रीति से हँसकर कद्रु ने कहा, 'मैं तेरी हरकतें जानता हूँ।'

'अच्छा हट जा यहाँ से!' हाँफते हुए सेनाजित ने कहा। उसने समझा कद्रु मार्ग रोके हुए है विष्णुगुप्त को अब अवश्य पकड़ लूँगा।

शत्रुघ्न को इशारा किया और एकदम कूदकर कद्रु से भिड़ गया। शत्रुघ्न भी उस पर टूट पड़ा। कद्रु इन दोनों से मुक़ाबला करने लगा।

सेनाजित भरपूर शक्ति से कद्रु को पकड़ने का प्रयत्न कर रहा था, लेकिन कद्रु बहुत शक्तिशाली था। सेनाजित और शत्रुघ्न दोनों मिलकर भी उसे न पकड़ सकते थे। गर्जनाकर उसने प्रयत्न किया, उसे और शत्रुघ्न को खड्ड में डालने का प्रयत्न करते उसने कद्रु की छाती में सिर दे मारा···कुछ क्षण तक तीनों एक दूसरे को पकड़-कर चक्कर लगाते रहे···सेनाजित को पृथ्वी और आकाश घूमते हुए दिखाई दिये।

कद्रु भयङ्कर था। वह दोनों को थका रहा था। सूर्य-बिम्ब सेनाजित की आँख में चुभा···कद्रु को शिला के नीचे फेंके बिना छुटकारा न था···ब्रह्महत्या!

गुफा के द्वार पर कोई आया!···कौन कुमार चन्द्रगुप्त···नीचे खाई दीखी···अब कद्रु को धक्का देना ही बाकी था···कहीं स्वयं गिरे तो? अरे···वह चीखा। एक दूसरे की भुजा से बुरी तरह जकड़े हुए तीनों नीचे की ओर···द्रुतवेग से जा रहे थे···और एक आवाज़ हुई।

फिर क्या हुआ इसका सेनाजित को भान न था।

३७

आचार्य विष्णुगुप्त, कुमार चन्द्रगुप्त को मुनि उद्दालक की गुफा में सोते छोड़कर ब्राह्म मुहूर्त से पहले संध्या-स्नानकर वेदव्यास की चरण-पादुका के दर्शनार्थ चल पड़े।

सैकड़ों वर्षों से मुनि उद्दालक उस शृंग पर रहते थे और भाग्य से ही कोई नैमिषारण्य वासी या यात्री उनके दर्शन करने आता था। और जो आते थे उनको पादुका के काल्पनिक दर्शन मुनि के आश्रम से ही होने लगते थे।

किंवदंती प्रसिद्ध थी कि मुनि उद्दालक के निवासस्थान के नीचे दुर्गम्य जङ्गल में, जिस स्थान पर भगवान द्वैपायन ने पंचत्व प्राप्त किया था, वहाँ उनकी स्वयंभू पादुकायें अभी तक थीं। ऐसा भी कहा जाता था कि वहाँ व्यास भगवान चिरंजीव उद्दालक को कभी-कभी दर्शन दिया करते थे। उद्दालक के आश्रम के प्रति लोगों में इतना भय था कि भाग्य से ही कोई उस मार्ग को पारकर पादुका के दर्शनार्थ आता था।

विष्णुगुप्त जब नैमिषारण्य आते तो उद्दालक से मिले बिना और चरण-पादुकाओं के दर्शन किये बिना नहीं जाते थे। जो दूसरों के प्रेरणास्थान थे उन्हें भी उन पादुकाओं की प्रेरणा बिना न चलता था।

उन्होंने एक डंडा लिया और परिचित पगडंडी से नीचे जाने लगे। पगडण्डी स्पष्ट न थी। पृथ्वी पर लेटी हुई असंख्य बेलों ने उस पर अनेक स्थान से आक्रमण किया था। वृक्षों, बेलों और झाड़-झंखाड पर गिरती चन्द्रिका विचित्र आकारों की योजनाकर मार्ग को भुला देती थी। वायु वेग से चलता हुआ वृक्षों और पत्तों में सरसराहट पैदा करता था। कभी किसी हिंसक प्राणी की गर्जना सुनाई दे जाती थी। वन के भयङ्कर एकान्त में चारों ओर मृत्यु-साम्राज्य था, फिर भी चाणक्य के डग दृढ़ थे, दृष्टि सतर्क थी और डंडा तत्पर।

अपनी हमेशा जैसी शान्ति से इस वन की विनाशक शक्ति के संदेश वह स्थिरता से सुन रहे थे।

उषाकाल समीप था। वृक्षों में होकर आती ज्योत्स्ना की रजत छवि की मोहकता क्षीण होने लगी। पगडण्डी स्पष्ट दीखने लगी। वृक्षों पर वन-विहगों का कलरव वन को जगाने लगा।

पवन का वेग बढ़ा और साथ ही साथ उसकी शीतलता भी बढ़ी। प्रातः सुरभि चारों ओर प्रसरित थी। उन्होंने गहरी साँस ली और सूर्य की नवसृजनता से आत्मा को समृद्ध करने लगे।

मार्ग अब स्पष्ट दीखता था। वह एक स्थान पर खड़े हो चारों तरफ़ बिखरी प्रकृति, अनास्वादित रससमृद्धि और उषा के स्पर्श से नवपल्लवित हुए जीवन के संगम से उछलते प्रवाह में अपने को बहाने लगे। अनुभव, संस्कार और स्वभाव के आवरणों को दूर किया और उनकी आत्मा इस प्रकृति-वैभव में स्थित तत्वों में एकरूप होने लगी।

उन्होंने विद्या के रहस्य के अनुसन्धान का प्रयत्न प्रारम्भ किया था, सर्वग्राही राजनीति में प्रवेश किया था, समरांगण की भयानक रुद्रता का अनुभव किया था, अनेक बार मानव जीवन के सौंदर्य को कुचल डाला था, कद्रुपता का पोषण किया था, संसार में सर्वव्यापक सांसारिकता का अनुभव किया था, और स्वार्थियों को अपना स्वार्थ—अपनी आकांक्षा की सिद्धि—के अतिरिक्त कोई मार्ग न पकड़ा था। इन सब अनुभवों से निर्लिप्त रहने के लिए उन्होंने इन सब में अन्तर्हित भावना का ही दर्शन किया था, उसी को दृष्टि के सम्मुख रखा था।

उन्होंने गहरी साँस ली। बाह्य प्रफुल्लता ने उनके अन्तर के गुह्य स्थलों को प्रफुल्लित कर दिया।

वह हँसे। उनके सब अनुभव का उद्भव इन्द्रिय लालसा से नहीं हुआ था। भूले-चूके, स्वेच्छा-स्खलित, अयुक्त आविर्भाव न थे। उनकी बुद्धि शतधा न थी, एक ही थी। मंत्रभूमि में, रण में, आश्रम में, एकांत में उन्होंने जो एक अवियोज्य आत्म-दर्शन किया था वह इस सृजन काल के प्रारम्भ में जैसे उषामुग्ध वन को सजीव करता आत्मा के संसर्ग से तन्मयता प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा था। उन्होंने आगे चलना शुरू किया। चारों तरफ़ प्रसरित सृष्टि की शक्तियों को वह अपने उच्छ्वास से आकर्षित कर रहे थे। उन्होंने भी शीतल समीर और उष्ण विनाशक पवन प्रसरित किया था। पुष्प बिखेरे थे, तो कंटक-

शय्या भी बनाई थी, कोपलें उत्पन्न की थी तो मूल भी उखाड़े थे, मेघ से छाया की थी तो कँटीली झाड़ियों से जीवन को छेदा भी था। उनकी आत्मा की सृजक और विनाशक शक्तियाँ चारों ओर प्रसरित थीं।

रविरश्मियों ने वृक्षों के शिखरों का स्पर्श किया। वन उज्ज्वल प्रकाश से ज्योतिमान हुआ। वह खड़े रहे। आँखें मींचीं। ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्। सूर्य भगवान् का प्रताप इन सनातन शब्दों में स्मरण करते उनका हृदय नम्र हुआ। उन्होंने सोचा कि वह अल्पातिअल्प, जितने अंश में ब्रह्माण्ड की आत्मा सूर्य की प्रतिमूर्ति थी, उतने ही अंश में वह भी सजीव थे।

वह वन के साथ, प्रकृति के साथ, शक्ति वैभव के साथ तन्मय हुए। वह स्वयं एक सुकुमार रश्मि, एक कलिका, एक समीर की सनसनाहट, एक निर्झर के प्रवाह-सा उनका अविर्भाव था।

ब्रह्माण्ड की उस आत्मा ने सृजनता और उल्लास में अपनी तेजस्विता को नरनारी रूप मे सृजित किया था, उनकी बुद्धि को संस्कारों के अनुसार व्यक्त की थी। अधिक सुन्दर और अधिक स्पष्ट आविर्भाव की उत्कंठा मे उस तेजस्वी ने नैमिषारण्य—केवल वृक्ष, पात, जल, मृग और मरालों का ही नहीं वरन्—व्यास, शौनक, उद्दालक, आरुणि, याज्ञवल्क्य, आश्वालायन और सांख्यायन परंपरा में अपूर्व नैमिषारण्य का स्वरूप ग्रहण किया था। वही आत्मा नैमिषारण्य के स्वरूप में विद्याओं का सृजन, पोषण, रक्षण और प्रचार कर रही थी।

उनके स्थिर नेत्रों को विद्या के सृजन की दिव्य मंदाकिनी दृष्टिगत हुई।। युगों के भगीरथ प्रयत्नों को सविता की रश्मियों ने इस स्वर्गंगा के निर्झरों को प्रस्फुटित किया था।

इन तेजस्वी निर्झरों को भगवान द्वैपायन ने शिव के सदृश्य जटा में एकत्रित किये। भागीरथ के समान तपोबल से उन्होंने इस ज्योतिर्मय सरिता का प्रवाह कूलों के मध्यवर्ती किया। उनके पथ का अनुसरण करनेवाले महर्षियों ने उसमें स्नान किया—उसे पूजा, उसमें नवीन

जल की सृष्टि की, उसके पतितपावन नीर को जगदुद्धार के लिये ले गये। व्याकरण, साहित्य, शास्त्र, पुराण, वेद और उपनिषद, सांख्य और योग—सब जलधि के समान अशान्त, तथा सरोवर जैसी शान्त, दिव्य और संजीविनी मंदाकिनी का स्वच्छन्दता से बहता जल था...और महर्षि भी उसी मंदाकिनी की महान् तरंग थे...

इन सबके द्वारा ब्रह्माण्ड का परम आत्मा विशुद्ध और पूर्णता में अद्भुत, सनातन शब्दब्रह्म-स्वरूप में प्रगटा था। उसके दिग्विजय में ही ब्रह्माण्ड की आत्मसिद्धि थी...

थोड़ी देर तक उन्होंने सवितानारायण के शब्दब्रह्म-स्वरूप का विचार किया।

वह मंदाकिनी गंदली हो चली थी, अनेक अन्तराय उसके प्रवाह को मन्द और उसकी निर्मलता को कलुषित कर रहे थे...राष्ट्र अन्दर ही अन्दर काँप उठता था। छिन्न-भिन्न प्रजा लोकसंग्रह द्वारा गढ़ी न जाती थी। नरेश एक दूसरे के ईर्ष्या-द्वेष में अपनी शक्ति का ह्रास कर रहे थे... दक्षिणपथ में दानव सरिता को गति को अवरुद्ध कर रहे थे, तक्षशिला और गांधार में यवन अपने पैरों से उसे मलिन करते थे। कलि सदृश्य प्रचण्ड महापद्म के कुल ने इस सरिता के शोषण को कुलधर्म बनाया था, अज्ञान अधमता और द्वेष चारों ओर फैले हुए थे।

इस सरिता ने ऐसी विपत्ति में एक तरंग का सृजन किया था और उसका नाम था विष्णुगुप्त चाणक्य। जितने अंश में सरिता की दिव्यता धारण करता था उतने ही अंश में वह प्रबल और दिव्य था। जितना वह तरंगत्व दिखाता था उतना ही वह निर्बल था। उन्होंने आँखें मींची तन्मयता प्राप्त करने के लिए इस सरिता का ध्यान किया।

थोड़ी देर बाद अपनी आँखें खोल आसपास देखा, सवेरे की प्रफुल्लता हृदय में उतारी। स्वयं एक महातरंग—चारों तरफ छोटी-बड़ी तरंगों को देख रही थी। उनकी सामर्थ्य अपनी ओर आकर्षित कर रही थी।

सरिता की मंदगति का रहस्य वह जानता था। स्वच्छन्दी असंस्कारी राजत्व के छोटे-बड़े प्रस्तर-खण्ड, टीले, पर्वत बीच में उसे रोकते थे, उन्हें वह अपने जल में सदैव के लिये न भिगो पाई थी। वह अपने वेग को बढाने के लिये एक सँकरी घाटी न बना सकी थी। अनेक बार सफल हुई, फिर भी निष्फल ऐसा वह—प्राचीन परन्तु बार-बार करने का—प्रयत्न था।

उसके जैसे दूसरे महातरंगों ने क्या-क्या किया? ययाति को भिगोया, पृथु को खंड-खंड किया, मांधाता को वेग का साधन बनाया। सहस्रार्जुन को कुचलना पड़ा। प्रतीप को उपयोग में लिया। जरासंध ने विघ्न-बाधायें खड़ी कीं। कितने प्रयत्नों से दुर्योधन को दूर किया और परीक्षित पर से निर्झरों को बढ़ाया तब जनमेजय को खींचने में बल प्रयोग करना पड़ा। जनक को तरंग बनाया तो महापद्मनन्द व्योमसुखी गिरिराज के सदृश्य गति रोककर खड़ा हुआ। और उसकी छाया में अनेक टीले सरिता के बीच में खड़े होकर उसकी गति अवरुद्ध करने लगे।

इस स्वच्छन्दी राजत्व का हमेशा के लिये नाम-निशान मिटा देना चाहिये—केवल गति बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये। पर्वतों का उपयोग नदी का मार्ग सरल करना है ...नैमिषारण्य से निकलती दिव्य सरिता का वह महातरंग चारों तरफ़ इस अवरोध रूपी नन्द के प्रताप को छोटी-बड़ी तरंगों से घेरे हुए था। छोटे-बड़े नरेशों को हाथ में ले, शिशुनागकुल के चन्द्रगुप्त को अपना बना, उसने नंद के राज्य को हिला देने का कार्य प्रारम्भ किया था। अपनी घोषणा नंद के कान में फूँककर महातरंग ने महाप्रयत्न प्रारम्भ किया था।

ज्यों-ज्यों वह चलने लगा त्यों-त्यों उसे स्पष्ट समझ में आने लगा। राजत्व उस सरिता से भिन्न न था। राजत्व, शस्त्रविद्या, दंडनीति, वार्ता, अर्थशास्त्र के अंग हैं—अर्थशास्त्र विद्या का एक अंग है; सर्व विद्याओं का मूल नैमिषारण्य है। उसने सृजन करने का

संकल्पित राजत्व नैमिषारण्य का अवियोज्य अंग—उसकी एक वृत्ति होनी चाहिये। जो वसिष्ठ ने न किया, जो देवाप शौनक ने न किया, जो उद्दालक आरुणि ने न किया वह उसे करना पड़ेगा।

शब्दब्रह्म का साक्षात्कार सरल करने के लिये नैमिषारण्य ने इन्द्रिय-विजय की साधना की। इन्द्रिय-जय के बिना विनय दुर्लभ थी, विनय बिना बुद्धि अज्ञेय थी, बुद्धि बिना शक्ति असंभव थी, शक्ति बिना योग न था, शान्ति न थी, आत्म-दर्शन न था—सरिता के साथ तन्मयता अशक्य थी।

उसने स्वयं इन्द्रिय-विजय की थी, हृदय में शान्ति और दृष्टि में निर्भ्रम धारण किया था। वहाँ उस सरिता का शिशु, उसकी महातरंग, उसका वेग और उसका भगीरथ—सरितामय हुआ था। अब अपनी शक्ति द्वारा राजत्व को विनय की डोरी से नाथकर सरितामय करना था···दुःसाध्य और भयंकर महत्वाकांक्षा।

व्यास द्वारा प्रवाहित दिव्य सरिता के केवल दो तेजस्वी पट उसकी विचारधारा में न थे, वरन् उसकी दृष्टि के सम्मुख प्रत्यक्ष नृत्य कर रहे थे। वह मिले—वर्तुलाकार। एक ने अकार का रूप धारण किया और दूसरे ने उकार का रूप लिया, दो दैवी स्वर फूट पड़े, चारों ओर नाचने लगे।

विद्या और इन्द्रियजय नैमिषारण्य ने युगों से साधे थे। फिर भी नंद पृथ्वी पर एकछत्र राज्य कर रहा था। अ और उ का साक्षात्कार उसे हुआ इससे क्या?

एकाग्रचित्त से विद्या और विनय का ध्यानकर चलते हुए वह रुके।

सामने एक काला पत्थर था उस पर स्वाभाविक तौर से दो बड़े पदचिन्ह खुदे हुये थे। एक वृक्ष उस पर शीतल छाया किये हुए था।

उनकी यात्रा समाप्त हुई। भगवान द्वैपायन की पादुका का दर्शन कर रहे थे। एक पर अ दीखा और दूसरे पर उ।

वह बैठ गये, प्रणिपात किया, पादुका की धूल सिर पर रखी। "भगवान द्वैपायन" उन्होंने उच्चारण किया! चारों तरफ बन में वही प्रतिध्वनि हुई।

पद्मासन लगाकर उन्होंने वृत्ति निरोध किया। नैमिषारण्य में से व्यास द्वारा प्रगट की हुई विद्या और विनय का प्रवाह उन्होंने चित्त के सम्मुख स्थिर किया। प्रवाह बहा, बढ़ा, अटका, पीछे उछला।

उन्होंने उसमें अपने जैसी महातरंग के दर्शन किये···स्वयं महातरङ्ग बन गये। वह ऊपर उछली, नीचे गई। विद्या और विनय की तरङ्गों को आकर्षित किया, अपने लिये···उनका अन्तर शान्त हुआ, चित्त एकाग्र हुआ।

प्रवाह पर विद्या और विनय की महातरङ्ग उमड़ रही थी। सब तरंगें उसमें मिल गईं। दसों दिशा की दिव्य शक्तियाँ आकर्षित हुईं, अपने में विलीन हो गईं।

नैमिषारण्य महातरङ्ग बन गया, महातरङ्ग और अपने बीच का भेद लुप्त हो गया···।

एक ही महातरङ्ग व्योमचुम्बी···

अकार और उकार दोनों के तेजस्वी गुच्छे···प्रकाश विलीन हो गया। चारों और से अन्धकार उस महातरङ्ग पर आच्छादित हो गया। महातरङ्ग ज्योति–बिन्दु बना रहा। तेज के बिन्दु में अकार और उकार स्पष्ट अंकित थे···बिन्दु कम्पायमान हुआ!

नाड़ी की गति रुद्ध होने लगी। चित्त का निरोध बढ़ने लगा।

तेजबिन्दु में सौम्य प्रकाश फूटा। बिन्दु के आसपास अरुणिम वर्तुल प्रगट हुआ। बिंदु स्थिर होता गया···हो गया।

···समग्र अरुणिमा फैल गई···अकार और उकार संलग्न हो गया···बिन्दु बढ़ा। निश्चय हुआ···अ और उ अदृष्ट हो गये···बिंदु के स्थान पर, अरुणिम प्रणव अवशेष था।

ॐकार बड़ा हुआ···द्रष्टा विलीन हो गया—प्रणव में ब्रह्माण्ड

लय हो गया···और दसों दिशा विहीन आकाश में ॐकार की परम एवं प्रफुल्ल ज्योति जगमगा उठी···

ॐकार अदृष्ट हुआ। और क्षण भर को निर्विकल्प समाधि लग गई।

× × ×

···समय बीत गया। द्रष्टा प्रगट हुआ—नैमिषारण्य के दर्शन हुए, साथ में ॐकार का दर्शन हुआ···

···विद्याविहीन निरर्थक इन्द्रिय-जय न था, इन्द्रिय-जय विहीन अधम विद्या न थी। दोनो तपश्चर्या की शक्ति से संलग्न हो गये थे।

नैमिषारण्य में अगाध शक्ति प्रगटी। उस शक्ति से उन्होंने राजत्व को अपना बनाया, विनय और विद्या को अपनाया।

उसमें से उछलते तेजवारिधि ने दिगंत में विद्या, विनय और तप की उर्मियाँ उठाईं—वह ब्रह्माण्ड पर दिग्विजय कर रहा था। जहाँ शब्दोच्चारण किया वहीं प्रतिशब्द हुआ, जहाँ तप किया वहीं दर्शन हुए, जहाँ परम शान्ति मिली वहाँ साक्षात्कार हुआ। उसकी सीमा बढ़ती गई और ब्रह्माण्ड उसके साथ एकाकार हो गया।

उनका श्वासोच्छ्वास चलना शुरू हुआ। नैमिषारण्य ने अपना स्वरूप बदला। विद्या, विनय और शक्ति तीनों के एकीकरण के बल से प्रचण्ड अस्मिता का—चणक के पुत्र विष्णुगुप्त का प्रादुर्भाव हुआ।

उसके हृदय में शान्ति का प्रसरण हुआ—शिराओं में शक्ति का संचार हुआ।

३८

सेनाजित होश में आया। उसका सिर पहले जड़वत् लगा। उसके बाद वेदना शुरू हुई। उसकी आँखों पर लाल आवरण पड़ गया था।

उसने निःश्वास छोड़ी, हाथ घसीटा। उसकी वेदना का वारापार न था, उसने आह भरी। थोड़ी देर तक वह अचेत रहा। फिर चेतना लौटने पर बोलने का प्रयत्न किया परन्तु कुछ बोल न सका। किसी तरह से उसने हाथ ऊँचा किया और आँख पर बिखरे बालों को हटाया। बाल चिकने थे। आँखें लाल थीं। उसने हाथ लम्बा किया, वह पास में पड़े पत्थर से जा टकराया।

उसकी चेतना लौटने लगी। सिर में, कमर में और पैर में अपार वेदना हो रही थी, उस पर सूर्य का ताप पड़ रहा था।

कुछ-कुछ स्मरण हुआ। कद्रु, वह और शत्रुघ्न आपस में उलझे हुए थे। वालेन्दु उसके मानस-पटल पर अंकित हो गया। वेदना महान हो रही थी। हाँ, वह पर्वत पर से गिर पड़ा···और वह जीवित है। उसे हर्ष हुआ।

हवा चली जिससे वेदना कुछ कम हुई। लेकिन चक्कर आया, इसलिए फिर धराशायी हुआ। थोड़ी देर में फिर सिर ऊँचा किया। उसे भयंकर वेदना हो रही थी। सिर में से अभी तक खून टपक रहा था। उसने बैठने का प्रयत्न किया। अन्त में वह उठ बैठा और आँखों पर से बाल हटाये।

वह जंगल में घास और झाड़-झंखाड़ पर पड़ा था। उसने ऊपर देखा। ऊपर और ऊपर घनचुम्बी एक काला पत्थर झूम रहा था। वहाँ से वह गिरा था। उसे फिर चक्कर आया।

थोड़ी देर बाद वह फिर उठ बैठा। उसने धोती फाड़ सिर पर पट्टी बाँधी, और सारे शरीर में जो काँटे घुस गये थे उनको निकालना शुरू किया। उसका कंठ जल रहा था। जहाँ वह पड़ा था उसके नीचे थोड़ी दूर पर एक निर्झर प्रवाहित हो रहा था।

पानी बिना जैसे वह मरनेवाला हो ऐसा उसे प्रतीत हुआ, इसलिये वह जैसे-तैसे आगे खिसक-खिसककर बढ़ने लगा। सारे शरीर

में होती वेदना को किसी तरह सहनकर वह निर्झर के पास गया। उसने धोती गीली की, सिर धोया। उसकी पीडा कम होने लगी। पानी पीया और वहीं सो गया।

थोड़ी देर में वह सजग हुआ। उसको होश आने लगा। उसको हर्ष हुआ कि वह ज़िन्दा बच गया। वह अकेला हँस पड़ा। अभी उसकी विचारशक्ति सतेज न हुई थी। उसे भूख लगी, पर कोई फल न था। उसने ऊपर देखा। दूर, अस्पर्श्य उद्दालक का आश्रम था। उसने सोचा कि वहाँ गये बिना छुटकारा नहीं।

उसको वृक्षों में से एक छोटी खुली जगह दीख पड़ी। उस ओर वह आकर्षित हुआ। पास आया। क्या वहाँ कोई था? वह काँप उठा। उसकी आँख के सामने अँधेरा छा गया। कौन था? जो कोई था वह न खिसका? उसने गीली धोती आँख में लगा ली। एक पत्थर के सामने एक आदमी बैठा था। वह डर गया। उसने भागना चाहा। लेकिन वह आदमी न हिला। वह कौन होगा? उसे मार डालेगा क्या? रुद्र? शत्रुघ्न?

उसका साहस लौटा। आदमी होगा तो जीवित लौटने का मार्ग तो मिलेगा। यह सोचकर वह वृक्ष का सहारा लेकर देखता रहा, लेकिन वह बैठा हुआ आदमी न खिसका। वह पास आया।

जो आदमी आँखें मींचकर बैठा था उसकी पीठ और सिर उसे परिचित से लगे। उसे कुछ पहचान हुई। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया···अकेला विष्णुगुप्त बीस क़दम की दूरी पर आँखें बन्द किये बैठा था।

उसका शरीर चूर-चूर हो गया था। उसे प्रतीत हुआ कि वह अभी कूदनेवाला है। विष्णुगुप्त! विष्णुगुप्त! हाँ—उसको स्मरण हुआ। उसने धोती फिर आँख से लगायी और ललाट पर फेरकर, स्मरण-शक्ति सजेत की। सब याद आया। जिस आदमी को वह मारने आया था वही इस प्रकार आँखें मूँदे बैठा है।

एक पैशाचिक हास्य उसके होटों से फूट पड़ा। जिसको मारने का उसने इतना परिश्रम किया था वह ऐसे बैठा-बैठा मृत्यु की बाट जोह रहा है। लेकिन स्वयं तो अशक्त और निशस्त्र था। क्या किया जाय? वह व्यग्रता से वृक्ष की ओट में बैठ गया। फिर भी विष्णुगुप्त न हिला। वह मन ही मन हँसा। विधि जब स्वयं सहायक होती है तब कौन उसे टाल सकता है? वह मरने से बचा, केवल विष्णुगुप्त को मारने ही के लिये न'''उसकी आँखों में द्वेष चमकने लगा।

विष्णुगुप्त के पास हथियार हो तो? उसने वृक्ष की ओट में होकर ध्यानपूर्वक देखा। वह मर गया है या स्थिर ध्यान निमग्न है? भयङ्कर उन्मत्तता से सेनाजित के अंग-प्रत्यंग काँपने लगे। उसकी आरक्त आँखें और भी लाल हो गईं। उसका शत्रु, उसकी कीर्ति का राहु, दुष्ट आचार्य के पाप का घड़ा भर गया था!

वह धीरे-धीरे वृक्षों की ओट में छिपता-छिपाता उसके पीछे गया, परन्तु विष्णुगुप्त जैसे के तैसे समाधिस्थित थे। उसने एक पत्थर हाथ में उठा लिया और द्वेष से दाँत पीसे········

एक क्षण में वह विष्णुगुप्त को मारकर जङ्गल में से हवा हो जायगा; पाटलिपुत्र जायगा। वहाँ नंददेव उसे शाबशी देंगे, मन्त्रिपद देंगे; वह गौरी से विवाह करेगा········

वह धीरे-धीरे चल कर पत्थर उठा ले आया, लेकिन उसका हाथ थर-थर काँप रहा था। अब चार ही क़दम का अन्तर रह गया था। विष्णुगुप्त की जटा सुन्दर थी: उसने सोचा, उसको कुतूहल हुआ कि यह मूर्ख किसका ध्यान कर रहा है? उसने गर्दन लम्बी करके देखा: पत्थर पर दो स्वयंभू पादुकायें थीं—वेदव्यास की—कल जिनकी कथा कुलपति सुना रहे थे। उसको याद आई कि उसकी माँ ने भी इस वेदव्यास की बातें कही थीं। हाँ''' उसके गुरु ने भी

बताया था। वह धीवरनी का लड़का था······हा ! हा ! उसके पैरों की पूजा ! उसने आँखों पर हाथ रखा। यह क्या ?

········पादुका पर कोई खड़ा था ! वह घबरा कर पीछे हटा। कौन खड़ा था ? कोई व्याघ्रांबर धारण किये हुए, मोटे यज्ञोपवीत वाला। उसने ऊपर देखा ····युगों के ज्ञान से दैदीप्यमान मुख—ब्रह्मा के सदृश्य भव्य ललाट—नवग्रह से तेजस्वी व्युह से दैदीप्यमान प्रफुल्ल नयन—

घबराहट में वह पीछे हटने लगा......उस वृद्ध ने विष्णुगुप्त पर हाथ की छाया की !·····नैमिषारण्य के भूत और वर्तमान के महर्षियों के आशीष उसका संरक्षण करते हैं, उसको स्मरण हुआ। वह एक पेड़ की ओट में छिप गया......यह वृद्ध उसे मारेगा या विष्णुगुप्त को सजग करेगा। उसके अंग-प्रत्यंग काँप रहे थे। उसके हाथ से पत्थर गिर पड़ा।

सेनाजित उस वृद्ध को देख रहा था। उसको ऐसा लगा कि यही भगवानद्वैपायन······ !

उसने प्रणिपात किया, नमस्कार किया। यह नैमिषारण्य के स्रष्टा ! अनिच्छा होने पर भी उसका अन्तर नत हुआ।

विष्णुगुप्त तो निश्चल स्थिति में समाधिस्थ थे। सेनाजित ने होंठ चबाये। फिर भी वह न उठ सका। उसको विचार आया कि जिसका संरक्षण करने के हेतु युगों पूर्व पञ्चत्व प्राप्त भगवान द्वैपायन प्रगट हों, उसे मारने वह आया था।

······नैमिषारण्य ? उसमें क्या है ? शिष्य, वृद्ध, रुद्र, विष्णुगुप्त·····विष्णुगुप्त हो तो नैमिषारण्य जैसा था वैसा ही बना दे। न हो तब ····वह हँसा। उसने आँख पर हाथ फेरा। वह वृद्ध अलोप हो रहे थे—पारदर्शक हो रहे थे—अदृष्ट हो गये......

एक कोयल कूक उठी। उसने फिर पत्थर को उठा लिया और

वह खड़ा हुआ! वह फिर धीरे-धीरे आया; उसने जीभ काट कर अपने को सतेज किया। वह फिर काँपने लगा।

उसने पास आकर पत्थर उठाया। वह ध्यानस्थ, निःशस्त्र ब्राह्मण की इस प्रकार से हत्या कर रहा था! यदि यह मर जाय···यदि नैमिषारण्य सूख जाय···यदि पृथ्वी ब्राह्मण-विहीन हो, तब···तब ···गौरी सब स्त्रियों से क्यों निर्मल, उच्चाशयी और संस्कारी थी?

फिर कौन यज्ञ करेगा? देवताओं की कौन आराधना करेगा? धर्मशिक्षा कौन देगा?

···और नैमिषारण्य न होगा और तब भद्राक्ष, प्रमंडक और विष्णुगुप्त कोई न होगा···और नंद, वक्रनास और उसके जैसे ही रहेंगे। क्या पृथ्वी रहने योग्य रहेगी?

भयंकर! उसने पत्थर फिर उठाया...और नैमिषारण्य का वह विनाश करेगा तो उसके पूर्वजों के सब कर्मफल धूल में मिल जायँगे?

और किस लिये नैमिषारण्य के उद्धारक की हत्या की जाय?···

वह स्वयं उद्धार न कर सके तो विनाश क्यों करे? उसने पत्थर को बलपूर्वक पकड़ा और तिरछे होकर आचार्य के मुख के सामने देखा। उनके पाषाणवत् मुख पर दैवी भव्यता थी।

उसने ऊपर देखा। पादुका पर भगवान व्यास का पारदर्शक मुख दृष्टिगत हुआ। वह हँस रहा था।

उसका हृदय दबा, कुचल गया। निर्बलता उसकी रग-रग में व्याप्त हुई। श्रोत्रीय के सम्पर्क से पिशाच की तरह अपनी अधमता का अनुभव करके पीछे हटे-उसी प्रकार वह हटा।

'अच्छा, तुम सब इसे जिन्दा रखना चाहते हो, लो···करो·· मरो···' उसने दाँत पीस कर पत्थर फेंक दिया। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया और वह गिर पड़ा। निराधार अवस्था में वह आँख फाड़-फाड़ कर देख रहा था। पाषाणवत् आचार्य में चेतना

आई। उन्होंने श्वास लेना शुरू किया। वह हँसे। घबराया हुआ सेनाजित देखता रहा। उसकी श्वास अवरुद्ध हो गई। उसे अनुभव हुआ कि आचार्य उसे मार डालेंगे।

आचार्य ने आँखें खोल दीं, तब उनकी आँखों में भयंकर ज्योति थी। उन्होंने पादुका को प्रणिपात किया, आसन बदला और उठे।

मृत्यु की प्रतीक्षा में सेनाजित निश्चेष्ट पड़ा रहा।

आचार्य खड़े हुए'''व्योम से ज्योति ने उतर कर उनको लपेट लिया—सेनाजित को वह दिव्य और तेजोमय मूर्ति सदृश्य दीख पड़ी। उसे चक्कर आया, उसने सिर पृथ्वी पर टेक दिया।

'कौन सेनाजित ?' कह आचार्य उछल कर उसे उठाने लगे।

उपसंहार

आचार्य विष्णुगुप्त सेनाजित के हाथ में हाथ डाल कर जा रहे थे और उनको किसी के आने की पदचाप सुनाई पड़ी।

'कौन होगा ?'

'मुनि उद्दालक हों या कद्रु।'

'अरे—कद्रु !' कह शरमाते हुये सेनाजित ने सवेरे की बात कही।

आचार्य के मुख पर ज़रा ग्लानि छा गई, परन्तु वह कुछ बोले नहीं। पदचात समीप सुनाई दी।

दुहरे हो गये मुनि उद्दालक, चन्द्रगुप्त और साथ में गौरी को लिये सुकेतु दिखाई दिये। गौरी इन दोनों को इस प्रकार आता देख चकित हो गई।

'गौरी !—कुमार !' सेनाजित ने कहा। आचार्य तटस्थता से देख रहे थे।

'आचार्य ! सेनाजित !' गौरी बड़बड़ायी ।

'गौरी ! अब तेरी आवश्यकता नहीं जान पड़ती ।' चन्द्रगुप्त ने हँसकर कहा, 'अब आचार्य को बचाने का कोई कारण नहीं दीखता ।'

'गौरी मुझे बचाने आई थी ?' हँसकर आचार्य ने कहा, 'सेनाजित ने ही मुझे बचा लिया ।'

'नहीं, आचार्यदेव !' नीचे देखते हुए सेनाजित ने कहा, 'भगवान द्वैपायन ने मुझे रोका ।'

'सेनाजित ! तू मुझसे अधिक भाग्यवान है कि तूने भगवान के दर्शन किये ।' आचार्य हँसे । सब चलने लगे और आचार्य ने मुनि उद्दालक से कद्रु की बात कही ।

"वत्स ! यह कैसे होगा ? मुझसे कुमार ने कहा कि मैंने कद्रु को अपनी राह देखने को कहा था ।'

'मुनि !' आचार्य ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, कद्रु 'आपके हाथ में है, बचाइये ।'

"मेरे हाथ में कुछ नहीं ।" मुनि ने कहा और आँखें मींच लीं । "वत्स ! उस खड्ड के पीछे कद्रु है । कद्रु ! कद्रु !" मंत्र पढ़ रहे हों इस प्रकार मुनि ने कहा, "खड़ा रह, देव वरुण जीवनदाता है । तेरा संरक्षण करेंगे । आचार्य ! वहाँ जाओ ।'

आचार्य, कुमार और सुकेतु मुनि द्वारा निर्देशित मार्ग पर चल पड़े ।

वृद्ध मुनि ने पृथ्वी पर बैठकर आँखें बन्द कीं । गौरी सेनाजित के पास आई । उसका मुंह उतर गया था और उसकी आँखों में अश्रु थे ।

'गौरी । तू कैसे आई ?'

'आचार्य को तुम मार न सको, इसलिये'

'मैंने आखिर नहीं मारे ।'

'अच्छा हुआ, नहीं तो महर्षिगण निसन्तान होते ।' उसने सेनाजित के मुँह की ओर देखकर कहा ।

'गौरी, मेरी समझ में आया.....' सेनाजित ने धीरे से कहा, 'नैमिषारण्य की आशाओं को नष्ट करने का मुझे क्या अधिकार है ?'

सेनाजित की तरफ़ पूज्यभाव से गौरी देखती रही।

'नाथ !' उसने स्नेह से हाथ बढ़ाया, 'ठीक बात है। पूर्वजों के साथ विश्वासघात क्यों किया जाय ?'

सेनाजित ने अपना हाथ न बढ़ाया।

'गौरी, आचार्य की आज्ञा लेने के बाद। बढ़े हुए हाथ का उसने उत्तर दिया, 'गौरी !' उसने कहा, 'नरेन्द्रदेव मेरे प्राण लेंगे।'

'प्राण लेना देवताओं के हाथ में है।'

× × ×

आचार्य, कुमार और सुकेतु मृतप्राय कद्रु को ले आये और मुनि के सामने रखा। वह रक्तरंजित हो गया था और उसकी नाक कुचल गई थी। स्त्री जैसी सुकुमारता से आचार्य उसे साफ़ कर रहे थे। मुनि उसके सिरहाने बैठे थे। उन्होंने उसकी आँखें खोल कर देखीं, उसकी श्वास की गति देखी और अन्त में सूखे, लम्बे नाखूनों वाले हाथ को बढ़ाया और उसके ललाट पर रक्खा।

थोड़ी देर में मुनि के कर-स्पर्श से कद्रु के चमड़े के रंग और उसकी मुखाकृति में परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे श्वास लेना शुरू किया।

'अब इसे आश्रम ले जाओ।'

सेनाजित आचार्य के पास गया। 'मुनि से कहिये कि मेरे शत्रुघ्न को भी सजीवन करें !' आचार्य ने मुनि से कहा। मुनि ने नेत्र बन्द किये।। 'वह तो फिर चढ़कर आश्रम के आगे बैठा है।'

सेनाजित आर्द्र हृदय से चढ़ने लगा।

दूसरे दिन सवेरे होश में आये, परन्तु तीव्र पीड़ा पाते कद्रु को ले सब कुलपति के आश्रम गये, और वहाँ सब बातें सुन हर्ष हुआ।

कुलपति की वृद्ध आँखें गर्व से चमक रही थीं।

शाम को कुलपति के चरणों में सब बैठे।

'भगवान् !' आचार्य ने हाथ जोड़ कर कहा, 'कल लग्न करवा दीजिये।'

सब चौंके। आचार्य लग्न की बात करें ! सेनाजित का हृदय कुचल गया। गौरी मुर्झा गई।

'सेनाजित क्षत्रिय है, फिर भी शकटाली के हाथ का अधिकारी हुआ है।'

सब हँसे। सेनाजित साश्रु नयनों से आचार्य की ओर देख रहा था। गौरी आवेश से काँपने लगी।

'भगवान्!' सेनाजित ने कहा, 'अभी मुझे लग्न कहीं करना। नरेन्द्रदेव मुझे जीवित रहने देंगे या नहीं यह कैसे कहा जाय ?'

'हमारे साथ चलना।' महादेवी ने कहा।

'नहीं, महादेवी ! उनका मैंने नमक खाया है।'

'सेनाजित!' आचार्य ने कहा, 'पुनः लौट जाने में कोई हानि नहीं। तेरी सेना भाग जाय फिर तू क्या कर सकता है ? तू यहाँ रह और कद्रु जब ठीक हो जाय, तब उसे अपना कैदी बनाकर ले जा। नरेन्द्र की इच्छापूर्ति होगी।'

'जो आज्ञा।'

+ × ×

इतने में कई लोगों की पदचाप सुनाई पड़ी।

तीन नये आदमी आये थे। वे आंभि और आचार्य से मिलना चाहते थे।

आंभिकुमार और आचार्य उठकर उनके पास गये। तीनों ने उनको प्रणाम किया।

'सुग्रीव ! तू कहाँ से ?'

'महाराज का संदेशा लेकर आया हूँ।'

'क्या है ?'

सुग्रीव ने कपड़े में लिपटी कोई चीज़ रखी।

'क्या है, मुँह से कह !'

'आपको महाराज ने फ़ौरन बुलाया है।'

'किसे, कुमार को ?' आचार्य ने पूछा।

'आपको भी बुलाया है।'

'क्यों ?'

'महाराज बहुत बीमार हैं।'

'ऐं !' कुमार ने कहा।

'चणक ऋषि ने कहा है कि एक क्षण भी न रुकें।'

'और कुछ ?' आचार्य ने पूछा।

'हाँ।'

'क्या ?'

'यवनाधीश अलिकसुन्दर[1] एक महान सैन्य लेकर चढ़ आया है।'

'फिर ?' आचार्य ने पूछा।

'उसने बाल्हिदेश[2] पर अधिकार जमाया, पारसिकाधीप दारसेन[3] को भगा दिया, और पारसिकपट्टन[4] जला दिया।' सुग्रीव ने कहा।

'ऐं !'

'पारसी नष्ट-भ्रष्ट हुए और अलिकसुन्दर दुर्जेय सैन्य ले हम पर टूट पड़ने की तैयारी कर रहा है।'

कुमार आंभि निस्तेज हो देख रहे थे। आचार्य बोले नहीं।

'आचार्य ! चलिये तैयारी करें।'

'चलो।'

१—सिकंदर, २—वेकट्रिया, ३—दारा, ४—पारसीपोलिस

दोनों चुपचाप लौटे ।

'आंभि !' आचार्य ने विचार से जाग्रत हो कर कहा, 'अलिक सुन्दर आवेगा तो नंद का विनाश होगा ।'

'हमारा क्या होगा ?'

'देखूँगा ।' और उनके नेत्रों में ॐकार के दर्शन हुए ।

+ + +

तीन-चार घण्टे बाद उत्तर की ओर जानेवाले तैयार हुए । सेनाजित और गौरी आचार्य के चरणों में गिर पड़े ।

'गौरी !' आचार्य ने कहा, 'आचार्य शकटाल के कुल को तारने वाले पुत्र की माता होना ।' आचार्य हँसे, 'और सेनाजित ! उसे मेरे पास पढ़ने को भेजना । उसके पिता को भगवान् द्वैपायन ने दर्शन दिये थे, यह कथा मैं उससे कहूँगा ।'

सेनाजित और गौरी ने आचार्य की चरण-रज सिर पर रखी !